UNIVERSAL LIBRARY
OU_186537

UNIVERSAL LIBRARY

Osmania University Library

Call No H 180 K96P   Accession No H 4020

Author कुलश्रेष्ठ महेन्द्र

Title पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो से

This book should be returned ~~on or before~~ the date last marked below

विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन—२४४
Vishveshvaranand Institute Publication-244

नित्यानन्द विश्व ग्रन्थमाला
NITYANAND UNIVERSAL SERIES

ग्रन्थ ४ (ख)
Volume 4 (B)

१९६३

प्र. सम्पादक :

विश्वबन्धु

प्रकाशक :

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान,
साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब, भारत)

नि. वि. ग्रन्थमाला–४ (ख)

पाश्चात्य दार्शनिक

प्लेटो से कामू तक

महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

● सर्वाधिकार सुरक्षित

● पंजाब सरकार के भाषा विभाग की सहायता से प्रकाशित

● प्रथम संस्करण

सन् १९६३ तदनुसार संवत् २०२०

● मूल्य रु. २ ७५

● मुद्रक एवं प्रकाशक :

देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,

विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट प्रेस,

साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब, भारत)

सम्पादकीय ●●●

आज से लगभग तिहत्तर वर्ष (७३) पहले की बात है। दो महात्मा उत्तर भारत में इधर-उधर विचरते हुए एकाएक कहीं पर एक-दूसरे से आ मिले। और, मिले भी ऐसे कि जैसे, मानो, जमुना गंगा में और गंगा जमुना में आ मिली हों और सदा के लिए समरस होकर त्रिवेणी से एक धारा बन कर बहने लगी हों। भले ही उन महात्माओं के देह अलग-अलग बने रहे, परन्तु उनके आत्माओं का अद्भुत संमिश्रण स्थापित हो गया। उन दोनों के हृत्तल नितांत अभिन्न आन्तरिक धारणाओं और प्रेरणाओं द्वारा तरङ्गित हो उठे। वे धारणाएँ थीं, आर्य संस्कृति के प्रकर्ष की और उस संस्कृति के वैदिक मूल स्रोत की प्रतिष्ठा की। वे प्रेरणाएँ थीं, उससे कुछ ही वर्ष पहले आरम्भ हो चुके नए युग में वेदों के पुनरुद्धारक और आर्य संस्कृति के प्रमुख संदेशवाहक अपने से एक और महत्तर महात्मा के आरम्भ किए कार्य को और उसे आगे ले चलने और बढ़ाने की। वे महात्मा थे स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तथा ब्रह्मचारी (पीछे, स्वामी) नित्यानन्द जी, जिनका सन् १८६० से लेकर बराबर पच्चीस बरस तक सभी कार्यक्रम इकट्ठा चलता रहा। उनका जीवन-व्रत रहा स्वामी दयानन्द जी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए आर्य धर्म के प्रचार का और वेद-विद्या के पुनः प्रसार का।

उन्हीं महात्माओं ने सन् १९०३ में वेदों का कोष बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया और, अब वे मुख्यतः इसी कार्य में अग्रसर होते गए। वेदों का शब्दार्थ कोष बनाने से पूर्व वेदों में आए सब पदों का अकारादि क्रम से संग्रह कर लेना अत्यन्त आवश्यक था। अतः, वे इसी कार्य में प्रथम जुटे। सन् १९१० तक उन्होंने चारों प्रधान वेद-संहिताओं की पदानुक्रमणियाँ प्रकाशित कर दीं। अब वे इस शब्दार्थ-कोष की रूपरेखाओं को बनाने और आवश्यक सामग्री के जुटाने में लग गए। परन्तु १९१३ के अन्त में स्वामी नित्यानन्द जी व्याधि-ग्रस्त होकर अपने ५४ वर्ष में ही, ८ जनवरी १९१४ को चल बसे। वे ही विशेष रूप से इस महान् कार्यक्रम के कर्णधार थे। उनके अभाव में, स्वभावतः, यह सारा कार्य-भार स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को सँभालना पड़ा। उस समय उनकी अवस्था ६४ बरस की हो चुकी थी। उन्होंने १९२३ के मध्य तक इस गाड़ी को जैसे तैसे खींचा, पर विशेष प्रगति न हो पाई। अतः, उस बरस के अन्त में उन्होंने यह सब कार्य इन पंक्तियों के लेखक को सौंप दिया। उसके फलस्वरूप लाहौर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की व्यवस्था होकर १ जनवरी १९२४ से यह कार्य नियम-पूर्वक होने और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा।

तब से अब तक संस्थान की अपनी एक अच्छी लम्बी राम-कहानी है। परन्तु आज भी इसके विकसित हो चुके कई एक विभागों के मध्य में वही एक वैदिक कोष विभाग देह

में हृदय के समान जीवन-केन्द्र बन कर रहा है, जिसके लिए स्वामी नित्यानन्द जी ने अपने जीवन के अन्तिम दस बरसों का एक-एक क्षण लगाया था। इस कारण, संस्थान की ओर से उनके प्रति अपनी परम श्रद्धा प्रकट करने तथा उनकी पुण्य स्मृति को स्थिर बनाए रखने के उद्देश्य से "नित्यानन्द विश्वग्रन्थमाला" नाम से एक नई सांस्कृतिक ग्रन्थमाला सन् १९६० में उनकी जन्म-शताब्दी के अवसर पर आरंभ की गई।

संस्थान-विद्वान् श्री महेन्द्र कुलश्रेष्ठ द्वारा सम्पादित "स्वामी नित्यानन्द—जीवन और कार्य" १९६० में, संस्थान के प्रकाशन-सहाध्यक्ष श्री देवदत्त शास्त्री द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त मनुस्मृति—मूल पाठ, सरल अर्थ सहित' १९६२ में तथा स्वामी हरिप्रसाद 'वैदिक मुनि' कृत 'जप संहिता' १९६३ में इस माला के क्रमशः ग्रन्थ १, २ व ३ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अब इसके ग्रंथ ४ के रूप में 'विश्व के दार्शनिक' नामक यह ग्रंथ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके प्राच्य खण्ड में याज्ञवल्क्य से लेकर अरविंद और सर्वपल्ली राधाकृष्णन तक दस भारतीय दार्शनिकों और कन्फ्यूशियस तथा लौओशियस नामक दो चीनी दार्शनिकों के तथा पाश्चात्य खण्ड में प्लेटो से लेकर जेम्स, सार्त्रे, ह्वाइटहेड और कामू तक चौदह दार्शनिकों के संक्षिप्त परिचय-सहित विचार दिए गए हैं। भारतीय दार्शनिकों के लेखक हैं दयालसिंह कालेज करनाल, के प्राध्यापक, श्री रत्नचन्द्र शास्त्री, एम. ए., जिन्होंने साहित्य तथा दर्शन पर अन्य अनेक उत्तम ग्रंथ लिखे हैं। चीनी तथा पाश्चात्य दार्शनिकों को पूर्वोक्त श्री महेन्द्र कुलश्रेष्ठ ने लिखा है। इस योजना को बनाने और इसे क्रियान्वित कराने में संस्थान के धर्म व दर्शन विभाग के अध्यक्ष और संस्थान द्वारा प्रकाशित कई अंग्रेजी ग्रंथों के योग्य लेखक, श्री बहादुरमल जी ने महत्वपूर्ण योग दिया है।

पाठकों की सुविधा के लिए प्राच्य तथा पाश्चात्य खण्डों को पृथक्-पृथक् भी प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, यह ग्रंथ जन सामान्य को दर्शन-सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन में पर्याप्त बढ़ावा दे सकेगा। इस ग्रंथ का सम्पादन, मुद्रण व प्रकाशन अपने यहाँ के सम्बन्धित विभागों के सुन्दर सहयोग से ही सुनिष्पन्न हो पाया है। अतः मैं संतोष-पूर्वक उन सबका आभार स्वीकार करता हूँ, साथ ही आशा करता हूँ कि यह ग्रंथ अधिकारी पाठकों की अधिक से अधिक संख्या के हाथों में शीघ्र ही पहुँच सकेगा और वे इससे अपने जीवनोद्धार के निमित्त सत्प्रेरणा पा सकेंगे।

पंजाब सरकार (भाषा विभाग) ने इस ग्रंथ के प्रकाशन व्यय का कुछ अंश अनुदान के रूप में प्रदान किया है। इसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान,
साधुआश्रम, होशिआरपुर,
बुद्धजयंती, (८ मई, १९६३)

विश्वबन्धु

लेखकीय

विल ड्यूरेंट की 'दि स्टोरी आव फिलासफी' ने मुझे पहले-पहल दार्शनिक विषयों की ओर आकृष्ट किया। तभी से यह इच्छा हुई कि उसी जैसी रोचक पुस्तक हिन्दी में भी लिखी जाय। मैं संस्थान का कृतज्ञ हूँ, जिसके कारण यह इच्छा पूर्ण हो रही है।

प्लेटो से कामू तक इस पुस्तक में कुल चौदह दार्शनिक लिए गए हैं। कुछ और भी लिए जा सकते थे, या कुछ को छोड़ा जा सकता था—इस निश्चय में मेरी अपनी रुचि और अध्ययन ही निर्णायक रहा है। पर मैंने चेष्टा यह की है कि नए आधुनिक दार्शनिकों को—यथा जेम्स, ह्वाइटहेड तथा अस्तित्ववादी किर्केगार्ड सार्त्र और कामू को—भी पूरा महत्व दिया जाय। अस्तित्ववाद में मेरी विशेष रुचि है और उसे मैं मानवता का आगामी दर्शन मानता हूँ। पर मेरी अपनी कल्पना का अस्तित्ववाद आत्मपरक (subjective) नहीं है, वह वस्तुपरक (objective) और पूर्णतः तर्कसंगत है। इस दृष्टि से, मेरे विचार में, कामू ने कुछ विशेष कार्य किया है और भावी विचार की कुछ रेखाएँ स्पष्ट आंक दी हैं। मैं कामू पर भी एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखना चाहता हूँ और संभवतः एकाध वर्ष में वह भी पाठकों के सामने आए।

मार्क्स को भी मैंने दार्शनिक मान लिया है और इस पुस्तक में स्थान दिया है। इसमें कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है, परन्तु दर्शन अब क्रमशः जीवन के समीप आता जा रहा है। स्वयं अस्तित्ववाद इसका प्रमाण है जो जीवन के विविध संघर्षों और समस्याओं में ही प्रस्फुटित होता है और संभवतः इसीलिए उपन्यासों और नाटकों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। मार्क्स ने भी जीवन की मौलिक समस्याओं के समाधान का महान् प्रयत्न किया और अब सार्त्र ने मार्क्सवादी सिद्धांतों की सहायता से अस्तित्व के प्रश्नों का हल प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से वे मार्क्सवाद का कुछ वैचारिक सुधार भी कर रहे हैं।

इस पुस्तक के कई लेख संक्षिप्त रूप में पहले यत्र-तत्र छप चुके हैं। मैं उन सम्पादकों का आभारी हूँ जिन्होंने उन्हें इसमें सम्मिलित करने की अनुमति दी—विशेषतः 'न्यूज़फीचर्स आव इण्डिया' के भाई रामकृष्ण को, जिनके पास एक तरह से उन लेखों का कापीराइट ही है। पुस्तक छपाने तथा प्रूफ आदि देखने में श्री केशवदत्त मिश्र ने महती सहायता दी है—उनका भी आभार।

—प्र. कु.

अनुक्रम

प्लेटो	३
अरस्तू	१२
स्पिनोज़ा	२२
बर्कले	३३
कांट	४३
शापेनहावर	५४
किर्केगार्ड	६४
मार्क्स	७५
स्पेंसर	८५
नीत्शे	९५
जेम्स	१०५
ज्यां पाल सार्त्रे	११६
ह्वाइटहेड	२२७
अलबेयर कामू	१३४

पाश्चात्य दार्शनिक

● महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

प्लेटो

ई. पू. ४२७–३४७

●

दो हज़ार वर्ष पहले की बात है। एथेन्स के प्रसिद्ध कवि एगेथन के घर पर सहभोज का समारोह था। अतिथिगण 'प्रेम' के लोकप्रिय विषय पर चर्चा कर रहे थे।

फेडस ने कहा—प्रेम संसार का सबसे प्राचीन देवता है। वह सबसे अधिक शक्तिमान है। उसके अवतरित होने पर सामान्य व्यक्ति भी वीर बन जाते हैं। प्रेयसी की उपस्थिति में प्रेमी कायरता नहीं दिखा सकता। मुझे यदि प्रेमियों की एक सेना मिल जाए, तो मैं सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर सकता हूँ।

फेदेनियस ने कहा—लेकिन तुम्हें लौकिक और पारलौकिक प्रेम अथवा दो शरीरों और दो आत्माओं के आकर्षण में भेद करना चाहिए। शरीर का प्रेम यौवन समाप्त होने पर खत्म हो जाता है, परन्तु आत्मा का प्रेम अमर होता है।

इस पर मज़ाकिया अरिस्टोफेनिस ने कहा—पुराने जमाने में स्त्री और पुरुष अलग नहीं होते थे। वास्तव में तब दोनों के शरीर संयुक्त थे। यह शरीर गेंद की तरह गोल होता था और इसमें चार हाथ, चार पैर और दो मुँह होते थे। तब इनकी शक्ति अपार थी और ये स्वर्ग में तहलका मचाये हुए थे। इस पर स्वर्ग के मालिक ने नाराज़ होकर इनको दो भागों में बांट दिया, जिससे इनकी शक्ति आधी रह जाए। स्त्री और पुरुष के रूप में बाँटे गए ये टुकड़े तभी से एक दूसरे से मिलने को व्याकुल है और एक दूसरे के पीछे दौड़ते फिरते हैं। उनकी इस व्याकुलता को ही दुनियादारी की भाषा में 'प्रेम' कहा जाता है।

अन्य अनेक कवि दार्शनिकों के बाद मुख्य अतिथि सुकरात से बोलने को कहा गया। सुकरात ने कहा—ये परम विद्वतापूर्ण वक्तव्य सुनकर मैं तो गूंगा बहरा हो गया हूँ। अब मैं क्या कहूँ ? मेरी मूढ़ता इस प्रखर ज्ञान का मुकाबला कैसे कर सकती है !

फिर सुकरात ने अपने प्रश्नों से अब तक की प्रेम सम्बन्धी समस्त स्थापनाओं का खण्डन किया। प्रश्नों के माध्यम से विषय को प्रस्तुत और स्पष्ट करने की पद्धति सुकरात की अपनी अनोखी है। पुनः उसने अपनी बात प्रस्तुत की—स्वर्गिक सौन्दर्य की खोज में संलग्न मानवी आत्मा की क्षुधा को प्रेम कहते हैं। प्रेमी सौन्दर्य को ढूंढता ही नहीं, उसे उत्पन्न करता और स्थायित्व देता है। वह मरणशील शरीर में अमरता का बीज बोता है। एक दूसरे को प्रत्युत्पन्न करने के लिए ही स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम करते हैं।

चपटी नाक, मोटे ओंठ, भौंड़ी शक्ल परन्तु तेजस्वी विचारों वाले इस दार्शनिक की तत्त्व-चिन्ता के बाद सुरापान की प्रतियोगिता चली। इसमें भी सुकरात सबसे अग्रणी रहा। वह सुबह तक बिना बेहोश हुए पीता रहा और सुबह होने पर एथेन्स के निवासियों को अपने दर्शन की शिक्षा देने के लिए नंगे पैरों निकल पड़ा।

इस प्रसिद्ध भोज में प्लेटो नामक एक युवक भी उपस्थित था। वह बाद में सुकरात का शिष्य हुआ। उसने सुकरात का नाम संसार में अमर कर दिया। सच तो यह है कि यदि वह न होता तो शायद सुकरात को आज कोई भी न जानता।

प्लेटो भाग्यवान व्यक्ति था। वह अभिजात कुल में उत्पन्न हुआ था। उसके माता-पिता धनवान और प्रभावशाली थे। वह स्वयं सुन्दर और स्वस्थ था। इन सबसे ऊपर उसे प्रखर मेधा का वरदान मिला था। बीस वर्ष की अवस्था में वह सुकरात के सम्पर्क में आया। तब सुकरात का आयु बासठ वर्ष की थी।

नगर के देवताओं की पूजा न करने तथा युवकों को भ्रष्ट करने के आरोप में जब सुकरात को ज़हर पीने का दण्ड मिला, तब प्लेटो उसके पास मौजूद था। प्लेटो ने रिश्वत देकर सुकरात के निकल भागने का प्रबन्ध भी किया, परन्तु सुकरात ने इसे स्वीकार नहीं किया।

सुकरात की मृत्यु (३९९ ई. पू.) के पश्चात् प्लेटो ने एथेन्स छोड़ दिया। उसने बारह बरस तक संसार का भ्रमण किया। कहते हैं, अपनी

इस यात्रा में वह गंगा तट पर भी आया था। अपने ज्ञान को परिपक्व कर लेने के बाद वह एथेन्स वापस लौटा और एक नदी के शांत तीर पर उसने 'अकादेमी' की स्थापना की। प्लेटो अपने विचारों को वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत करता था और उन्हें सुकरात के मुंह से कहलाता था। इस कारण आज हम यह नहीं जान पाते कि प्लेटो क्या कहता है और सुकरात क्या कहता है ? इससे गुरु के प्रति शिष्य की अपार श्रद्धा का पता चलता है।

संसार का कोई विषय ऐसा नहीं है, जिस पर प्लेटो ने न लिखा हो। उसके तेईस ग्रन्थों में स्त्री से लेकर लोकतन्त्र और आत्मा तक सभी विषयों की चर्चा है। यह चर्चा निश्चित स्थापनाओं तक पहुंची है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने आदर्श समाज-जीवन की कल्पना की है। इतिहास में यह इस तरह का पहला 'यूटोपिया' है।

● ● ●

लेकिन इससे यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि प्लेटो सन्त था। वह बहुत अच्छा खिलाड़ी, वीर सैनिक, घुड़दौड़ का शौकीन तथा कवि था और कामेडी को बहुत ज्यादा पसन्द करता था। ८१ साल तक वह जीवित रहा और उसकी मृत्यु एक वैवाहिक भोज के अवसर पर हुई। जीवन के अन्तिम क्षण तक वह आमोद-प्रमोद और खेल-कूद से भरपूर रहा।

वस्तुतः उसका यह चरित्र उसके समय के अनुकूल था और वह अपने समय की जनता की भावनाओं तथा आन्तरिक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता था। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व का यह उत्तरार्ध ग्रीस और एथेंन्स के लिए कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व का काल था। वर्तमान युग से भी इस युग की बहुत काफी समानता है। इस समय लोग युद्ध कर करके थक चुके थे, क्रान्तियों से ऊब चुके थे, पुराने विश्वासों के प्रति उनमें श्रद्धा नहीं रही थी, और वे एक नए जीवन की तलाश में थे। वे जीवन के वास्तविक तथा अधिक स्थायी मूल्यों को खोज पाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनके लिए प्लेटो ने यह कार्य किया तथा जो वे चाहते थे, वह सब उन्हें दिया। उसने मानव-जीवन से ग्रीक देवी-देवताओं का, जो बड़े स्वस्थ और सुन्दर परन्तु स्वार्थी हुआ करते थे, बहिष्कार किया और तर्कशुद्ध विचार के आधार पर उन्नत जीवन का प्रचार किया।

परन्तु सुकरात के कारण ही उसे यह सफलता मिली। सुकरात उचित और पुष्ट तर्कपद्धति का देवदूत या जनक माना जाता था। उसके

सम्पर्क में आने के समय तक प्लेटो ने कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। परन्तु सही और स्पष्ट विचार के आन्दोलनकर्ता सुकरात ने सुकोमल कवि के पैर उखाड़ दिये, और सुकरात के साथ अच्छी तरह विचार-विनिमय कर लेने के बाद प्लेटो ने अपनी कविताओं का पुलिंदा तहस-नहस कर दिया। परन्तु उसके हृदय की कविता मरी नहीं, वह उसकी गद्य-रचनाओं में भी प्रकट होती रही। महाकवि शैली ने उसके गद्य को काव्यात्मकता तथा भाव-मधुरता से भरपूर माना है।

प्लेटो सुकरात का शिष्य और मित्र बन गया। वह और भी अनेक युवकों के साथ सुकरात की सेमिनार जैसी मीटिंगों में, जो कभी जिमनेजियम में होती थीं, कभी किसी मन्दिर के चबूतरे पर, तो कभी किसी दोस्त के घर में, भाग लेने लगा। यहाँ महत्त्वपूर्ण विचारों पर ही बहस नहीं होती थी, उनके सोचने तथा निर्णय करने के सही ढंग पर भी चर्चा होती थी, और वास्तव में सुकरात का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यही था कि उसने सही ढंग से विचार करने की पद्धति सिखलाई।)

जसे 'पुण्य' के लोकप्रिय प्रश्न को लें। साधारणतया अच्छे काम करने वाले को पुण्यात्मा कहते है। पर इसे प्रश्न के रूप मे सुकरात ने यों रखा—किसी को अच्छा क्यों होना चाहिए ? फिर इसे स्पष्ट करते हुए उसने यह निष्कर्ष दिया कि किसी विषय की अच्छाई वह है जो विषय के पूर्ण परिचय तथा भली भाँति विचार करने के पश्चात् प्राप्त हो। वास्तव में यह एक बड़ा अनोखा सा उत्तर है। परन्तु सुकरात का कहना है कि जिस विषय पर मनुष्य को निर्णय लेना हो, उसका उसे पूर्ण ज्ञान हो, तथा स्वतन्त्र निर्णय की सुविधा हो, तो उसका निर्णय भी सही होगा और वही अच्छा भी होगा। इस तरह उसने नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध मे मानवी बुद्धि को ही अन्तिम अधिकारी घोषित किया। निश्चय ही इतिहास का यह एक क्रांतिकारी कदम था।

और प्लेटो ने इसे आगे बढ़ाया। उसने कहा कि तर्कपूर्ण कार्य तो अच्छा कार्य है ही, अच्छा आदमी भी वही है जो तर्क से संचालित होता है। उस जमाने में मनोविज्ञान जैसी कोई चीज़ नही थी, इसलिए प्लेटो ने अपना अलग मनोविज्ञान बनाया जो बाद मे हजारों साल तक चलता भी रहा। उसने कहा कि मनुष्य के सचेत जीवन के तीन भाग होते हैं : एक भाग इन्द्रियों का जिसमें उसकी वासनाएँ तथा क्षुधाएँ संचित होती हैं, दूसरा उसका शांत और स्थिर भाग जिसे आत्मा या 'स्पिरिट' कह सकते हैं, और तीसरा भाग वह जो सोचता-समझता और तर्क करता है।

इसके आगे उसने कहा कि चूँकि तर्क ही मनुष्य को अन्य पशु-पक्षियों से अलग करता है, इसलिए यही तीनों में सर्वश्रेष्ठ है और इसका कार्य है शासन तथा संचालन करना। मनुष्य की वासनाओं तथा क्षुधाओं को इसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। जब शरीर का प्रत्येक भाग अपने स्वाभाविक कार्य को सहज रूप से करता रहता है, तो वही 'पुण्य' होता है। जब यह स्वाभाविक क्रिया नष्ट हो जाती है, तो यह 'पाप' होता है। इस ढंग से प्लेटो ने मूल्यों की दृष्टि से टूटते-बिखरते उस युग को अच्छाई का उपदेश भी दिया, तथा उसको एक नई परिभाषा भी प्रदान की। प्लेटो का यह विचार कि बुद्धि के अधीन समग्र मानवी आचार का संगठन ही नैतिकता का सार-तत्त्व है, कभी पुराना नहीं होगा। सच तो यह है कि दो हजार साल बीत जाने के बाद भी आज हम इस विचार को जीवन की धुरी नहीं बना सके हैं, आज भी हम किसी धर्म-ग्रन्थ में लिखित रूढ़ आदेशों से बंधकर ही अपना आचरण करते हैं और उनके औचित्य-अनौचित्य का जरा भी विचार नहीं करते।

प्लेटो का लेखन इतना सामयिक प्रतीत होता है, मानो वह दो हजार साल पहले न हुआ हो, आज ही जीवित हो, और दरवाजे पर खड़ा हो, जो किवाड़ खुलते ही भीतर चला आएगा और कुर्सी पर बैठकर बातें करने लगेगा। वह गणित ज्योतिष तथा भौतिकी की बातें इस तरह करता है, मानो ये जीवित विज्ञान हों—उसके समय में ये चीजें कहाँ थीं—और बिलकुल फ्रायड की भाषा में स्वप्नों को समझाता है कि नींद में जब तर्क का नियन्त्रण शिथिल हो जाता है तब 'हमारी प्रकृति का जंगली जानवर उठ बैठता है और नंगा होकर घूमने-फिरने लगता है।' श्रम-विभाजन की आवश्यकता तथा कारणों पर वह आधुनिक अर्थशास्त्री की तरह भाषण देता है। उसने ही पहले-पहल सेकेंडरी तथा हायर शिक्षा के भेद का सुझाव दिया, विज्ञान में विशेष योग्यता अर्जित करने की आवश्यकता बताई तथा सामाजिक समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से हल करने के लाभ समझाए। इसी तरह उसने और भी अनेक नए विषयों पर मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला। किंडरगार्टन के ढंग की आरम्भिक शिक्षा का आविष्कार उसी ने किया। उसने कहा कि 'अनिवार्य रूप से की जाने वाली शारीरिक कसरत कोई हानि नहीं पहुँचाती, परन्तु अनि-वार्यता के दबाव में अर्जित ज्ञान मस्तिष्क में जम नहीं पाता। इसलिए शिक्षा के लिए अनिवार्यता का नियम गलत है। आरम्भिक शिक्षा मनो-रंजन के माध्यम से दी जानी चाहिए।'

तर्कसंगतता के विचार को प्लेटो ने व्यक्ति के अच्छे होने तक ही सीमित नहीं रखा, उसे राज्य के अच्छे होने तक फैलाया और एक अच्छे राज्य की सम्पूर्ण कल्पना प्रस्तुत की। उसने कहा कि जिस तरह एक अच्छा व्यक्ति तर्कसंगत विचारों से संचालित होता है, उसी तरह किसी भी राज्य को अच्छा होने के लिए तर्कसंगत विचारों वाले कुछ चुने हुए व्यक्तियों के संचालन में ही चलना चाहिए।

वास्तव में 'यूटोपिया' की यह सम्पूर्ण कल्पना बड़ी मनोरंजक है। इसलिए इसे संक्षेप में यहाँ देखते हैं। 'रिपब्लिक' में प्लेटो कहता है—

समाज में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सामुदायिक रीति पर होना चाहिए। श्रेष्ठ सन्तानें उत्पन्न करने के लिए श्रेष्ठ पुरुषों का सम्बन्ध श्रेष्ठ स्त्रियों से कराया जाए। व्यक्तिगत विवाह और परिवार न हों। बच्चों को आरम्भ से ही राजकीय पालन-गृहों में रखा जाए। न माता-पिता अपने बच्चों को जानें और न बच्चे ही अपने माता-पिता को जानें। तभी विश्व-भ्रातृत्व का विकास सम्भव है।

इस प्रकार स्त्री पुरुष स्वतन्त्र प्रेम करने के अधिकारी हों परन्तु सन्तानोत्पत्ति पर राजकीय नियमन हो। नागरिकों का व्यक्तिगत जीवन राजकीय चिंता का विषय नहीं है। उसे सिर्फ यह देखना है कि अपना सुख प्राप्त करने की होड़ में नागरिक एक दूसरे को हानि न पहुँचाएँ।

पहले बीस वर्ष तक सभी बच्चों को एक समान शिक्षा दी जाए। यह शिक्षा व्यायाम और संगीत की हो। व्यायाम शरीर के गठन के लिए तथा संगीत मन और आत्मा के स्वास्थ्य के लिए। जिस व्यक्ति की आत्मा में संगीत नहीं, वह विश्वासयोग्य नहीं होता। संगीत का अर्थ है समरसता, संवादिता, जो जीवन के सुख के लिए बड़ी आवश्यक वस्तु है। यह शिक्षा लड़के और लड़कियों को एक साथ दी जानी चाहिए।

इसके बाद देखा जाए कि कितने व्यक्ति और अधिक शिक्षा पाने के अयोग्य हैं। ऐसे व्यक्ति किसान, मजदूर और व्यापारी बना दिए जाएँ। बचे हुए लोगों को अगले दस वर्ष तक विज्ञान अर्थात् गणित, ज्यामिति और खगोल विद्या की शिक्षा दी जाए। यह शिक्षा व्यवहार के लिए नहीं, अपितु सौन्दर्य-बोध के लिए होगी। श्रेष्ठ नागरिकों के लिए यह उचित नहीं है कि वे गणित का उपयोग व्यापार करने या पुल बनाने में करें।

इसके बाद जो व्यक्ति पुनः परीक्षा में उत्तीर्ण न हों, उन्हें सैनिक बनाकर राष्ट्र के कार्य में लगाया जाए, वे राष्ट्र के संरक्षक कहलाएँ।

अब जो लोग बचेंगे वे ही दर्शन का अध्ययन करने के योग्य होंगे। ये ही स्त्री-पुरुष राज्य का शासन करने की दृष्टि से शिक्षित किए जाएँ। इनको पाँच वर्ष तक दर्शन की तात्त्विक शिक्षा दी जाए। इसके बाद पन्द्रह वर्ष तक ये शासन में व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए नियुक्त किए जाएँ। तब पचास साल की उम्र होने पर ये 'दार्शनिक शासक' बनने के योग्य होंगे। आदर्श दार्शनिक ही आदर्श शासक हो सकता है। जो व्यक्ति जीवन के सभी रहस्यों से भली भाँति परिचित है, वही समाज की समुचित उन्नति कर सकता है।

प्लेटो की इस आदर्श कल्पना में स्त्री-पुरुष को पूर्ण समानता प्राप्त है। यह इसकी पहली विशेषता है जिसे प्रतिफलित होने में शायद अभी भी कुछ शताब्दियाँ और लग जाएँ। इसकी दूसरी विशेषता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और उसमें राज्य के हस्तक्षेप का न्यूनतम होना है। आज तो राज्य सर्वग्रासी होता जा रहा है—वह यह भी निश्चित करता है कि व्यक्ति शराब बिलकुल न पिये, जैसा भारत में हो रहा है।

तीसरी और प्रमुख विशेषता 'दार्शनिक शासक' की कल्पना है। इसमें सर्वोत्तम व्यक्तियों के शासन में लिए जाने की बात है। आज स्थिति यह है कि लोकतन्त्र में ज्यादातर ग्रामीण, कम पढ़े-लिखे और संस्कृति तथा कला आदि से नितांत हीन व्यक्ति ही चुनकर ऊपर आते है। जिन्हें राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, कानून आदि का बिलकुल ज्ञान नहीं होता, या बहुत थोड़ा ज्ञान होता है, वे ही विधान सभाओं में बैठकर इन विषयों के नियम बनाते हैं। यह स्थिति प्लेटो की कल्पना से बिलकुल उलटी है। कम से कम भारत की दशा तो यही है।

इन दार्शनिक महामानवों को प्लेटो ने 'गार्जियन' भी कहा और उन्हें अधिकार में बनाए रखने के लिए सेना की व्यवस्था की। साथ ही उसने यह भी कहा कि इनकी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो और न कोई व्यक्तिगत रागद्वेष ही हों। उनकी पत्नियाँ, बच्चे तथा सब सम्पत्ति साझी कर ली जाए। उनका मैथुन जीवशास्त्र के नियमों के अनुसार नियत समय पर ही होना चाहिए। एक मैथुन काल से उत्पन्न सब बच्चे आपस में भाई-बहिन हों और सब माता-पिताओं को अपने माता-पिता मानें। और चूंकि उन्हें तभी स्कूलों में भेज दिया जाएगा, कोई अपने असली माता-पिताओं को नहीं जान पाएगा।

प्लेटो ने समाज के तीन विभाग किए हैं और 'दार्शनिक शासक' को सबसे ऊपर रखा है। यह शासक धर्म की समस्त रूढ़ियों को नष्ट भ्रष्ट कर देगा। वह अपराधियों पर दया करेगा और उनके सुधार की

व्यवस्था करेगा। उसके राज्य में वकील अनावश्यक हो जाएँगे। कानून बहुत कम और उनके अर्थ सरल होंगे। लोग स्वतः अपना शासन करना सीखेंगे, अतः पुलिस भी न्यूनतम रह जाएगी। उसके राज्य में डाक्टर नहीं होंगे, क्योकि रोग सुशिक्षा का परिणाम नही है। व्यापार को निन्दनीय समझा जाएगा क्योंकि व्यापारी एक साथ सफल और ईमानदार नहीं हो सकता। प्लेटो द्वारा कल्पित समाज का जीवन सौन्दर्य का, न्याय का, प्रेम का जीवन है। सौन्दर्य, न्याय और प्रेम—ये तीनों शब्द भी इसमें एक ही अर्थ के पर्याय हो जाएँगे।

इस कल्पना की कई बातें बड़ी हास्यास्पद और असम्भव भी लग सकती हैं। परन्तु इसका कारण भी शायद हम में वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव ही हो। जैसे श्रेष्ठ पुरुषों तथा श्रेष्ठ स्त्रियों द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की कल्पना और इस विषय की अन्य कल्पनाएँ। परन्तु बिलकुल यही, बल्कि इससे भी ज्यादा आगे बढ़ी चढ़ी कल्पना, हमारे ही युग के सुप्रसिद्ध नोबुल पुरस्कार विजेता जीव-वैज्ञानिक सर जूलियन हक्सले ने अभी सन् १९६१ में की है। उन्होंने कहा है कि प्रतिभाशाली पुरुषों का वीर्य सुरक्षित रखा जाना चाहिए और प्रत्येक स्त्री को उससे एकाध सन्तान अवश्य देनी चाहिए। आपने यह भी कहा है कि ससार की असभ्य तथा बदसूरत जातियों को विकसित और सुन्दर जातियों के सम्पर्क से योजना-पूर्वक बदलने की चेष्टा की जानी चाहिए। यह सच है कि इन विचारों के कारण उनकी तीव्र आलोचना हुई, परन्तु आलोचना या निन्दा से वैज्ञानिक विचार की सत्यता नष्ट नही होती, आलोचक की अपनी अवैज्ञानिकता या असत्यात्मकता ही प्रकट होती है। यहाँ हमें यह भी देखना चाहिए कि दो हजार साल पहले हुए एक कोरे दार्शनिक के विचारों में और आज के प्रयोगशाला-परीक्षित एक सफल वैज्ञानिक के विचारों में कितनी समानता है। और इसी मे प्लेटो का महत्त्व निहित है।

● ● ●

प्लेटो के नए विचारों का प्रभाव फैला और सायराकूज़ के नये अत्याचारी शासक डायनीसियस ने उसे आदर्श शासक बनने की शिक्षा देने के लिए अपने यहाँ बुलाया। इस समय प्लेटो की अवस्था ६० वर्ष की थी। वह बहुत प्रसन्न हुआ और बड़ी आशा से अपने काम में लगा। इसमें उसने बड़ी गम्भीरता दिखाई जो उसके लिए हानिकर सिद्ध हुई। उसने कहा कि ज्यामिति से राजा की शिक्षा आरम्भ होनी चाहिए क्योंकि इससे उसे तर्क करने की कला समझ में आएगी। उसने कहा कि तर्क करना सीखे बिना राजनीतिक सुधारों की गहरी बातें दिमाग में नहीं चढ़ सकतीं।

अतः राजा ही नहीं, उसके सभी अधिकारी रात दिन ज्यामिति सीखने लगे। जमीन रेखाओं से काली हो उठी। परन्तु राजा को ज्यामिति समझ में नहीं आई और अपनी असफलता का रोष वह प्लेटो पर उतारने लगा।

इधर प्लेटो के विरोधियों ने एक नया दार्शनिक ला खड़ा किया जिसने कहा कि अनियंत्रित शासन ही सर्वोत्तम होता है और वह गणित के बिना ही अच्छी तरह चलाया जा सकता है। दशा इतनी ज्यादा खराब हो गई कि प्लेटो को एक रात चुपचाप महल से भागकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से एथेन्स आना पड़ा। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि राजा ने प्लेटो को गुलाम बनाकर बेच दिया और इस प्रकार प्लेटो दार्शनिक शासक तो नहीं बन पाया, दार्शनिक गुलाम जरूर बन गया।

जो हो, कुछ समय बाद डायनीसियस प्लेटो से प्रसन्न हो उठा और एक पत्र लिखकर अपनी भयकर भूल की क्षमा माँगी तथा अपने विषय में पुनर्विचार करने की प्रार्थना की। इस बार प्लेटो ने उसकी उपेक्षा की और कहा—मैं अपने चिंतन में व्यस्त हूँ। मेरे पास प्रार्थना पर विचार करने का समय नहीं है।

एथेन्स में उसकी 'अकादमी' चल ही रही थी। वहीं रहकर प्लेटो लोगों को अपने दर्शन की शिक्षा देने लगा। समग्र इतिहास का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्कूल है जो एक हजार वर्ष तक चलता रहा। एथेन्स से मील भर दूर एक जिमनेजियम में इसकी कक्षाएँ लगती थी। शहर में उन दिनों तीन जिमनेजियम थे, जिनमें खेल-कूद तथा नहाने-धोने की इमारतों के अतिरिक्त ऐसे बगीचे भी होते थे जिनकी झाड़ियों तथा पगडंडियों पर लोग चलते-फिरते या बैठकर पढ़-लिख और बहस-मुबाहसे कर सकते थे। प्लेटो के जिमनेजियम की इस तरह की झाड़ियों को अकादेमस की झाड़ियाँ कहा जाता था, जिससे उसका नाम 'अकादेमी' या 'अकादेमिया' पड़ा। यहाँ जो चाहता, बिना फीस के आ सकता था, और बड़े आमोद-प्रमोद के साथ शिक्षा पाता रहता था। सभी विषयों पर प्लेटो की बात-चीत चलती थी और फिर वह लिख ली जाती थी।

८१ वर्ष की अवस्था में प्लेटो अपने एक युवक मित्र के विवाह में सम्मिलित होने गया। वहाँ उसने कुछ बेचैनी का अनुभव किया और थोड़ी देर आराम करने के लिए वह भीतर जाकर लेट रहा। यह उसकी अन्तिम निद्रा थी। बाहर बाजे बजते रहे और भीतर यह बूढ़ा दार्शनिक चिर निद्रा में सो गया। ●

अरस्तू

ई. पू. ३८४-३२२

●

कुछ दार्शनिकों ने नियति को अन्धा कहा है, और कदाचित् यह ठीक भी है। उसके राज्य में अक्सर सब उलटा ही देखने में आता है। प्लेटो अपने गुरु सुकरात का इतना कृतज्ञ रहा कि खुद अपने नाम से उसने कभी कुछ भी नहीं लिखा, और संसार को जो भी नये विचार दिए, सब अपने गुरु के ही मुख से कहलवाये। उसका बदला यह मिला कि उसके अपने शिष्य अरस्तू ने उसे सदा अपमानित किया और यहाँ तक कह दिया कि प्लेटो के मर जाने से दर्शन का जनाज़ा नहीं उठ जाएगा। और जब प्लेटो सचमुच मर गया, तब भी वह उसके विचारों का खण्डन करता रहा, जब कि मौत के बाद लोग बुरे आदमी की भी प्रशंसा करने लगते हैं।

अब फिर नियति की कारगुजारी देखिए कि अपने गुरु को जीवन भर भला बुरा कहने वाले अरस्तू को उसके अपने शिष्यों, हेरमियास और सिकन्दर से इतना ज्यादा सम्मान और सहायता मिली जिससे वह 'अरस्तू' बन सका और अगले दो हजार साल तक संसार के सर्वोत्तम दार्शनिक-वैज्ञानिक के रूप में प्रख्यात रहा। हेरमियास ने, जो ग्रीस के एक नगर राज्य का स्वामी था, गुरु के उपकारों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए अपनी बहिन ही उसे ब्याह दी। इस कारण अरस्तू राजकुमारी का पति कहलाया और विशेष राजकीय सम्मान का भाजन हुआ।

सिकन्दर ने, जो यद्यपि अपने गुरु के उपदेशों को ठीक से समझ भी नहीं सका, उसकी संस्था 'लाइसियम' को करोड़ों रुपये की सहायता दी तथा संसार के प्रत्येक देश में से अरस्तू के लिए सभी प्रकार के पशु-पक्षी

तथा विविध नूतन सामग्री ढूंढ-ढूंढकर लाने के काम पर हजारों कर्मचारी नियुक्त किये। उसने लाइसियम में अरस्तू की सहायता करने के लिए भी कर्मचारियों की एक सेना जुटा दी तथा एथेन्स में उसकी एक विशाल मूर्ति बनवाकर स्थापित कराई।

शिष्यों की इसी उदार सहायता का परिणाम यह हुआ कि अरस्तू लगभग चार सौ—एकदम महर्षि व्यास की ही तरह—ग्रन्थों का रचयिता कहा जाता है और यद्यपि आज उनमें से अधिकांश नष्ट हो चुके हैं, फिर भी जितने शेष हैं, वे एक विशाल पुस्तकालय के बराबर तो हैं ही और चिरकाल तक अरस्तू की कीर्ति को अमर बनाये रखने में सक्षम हैं। निश्चय ही ग्रन्थों की इतनी बड़ी संख्या अरस्तू की अपनी लेखनी से निर्मित नहीं हुई होगी—जैसी व्यास की रचनाओं की स्थिति है—और प्रत्यक्ष रूप से उनका लेखक अरस्तू का शिष्य समुदाय ही रहा होगा, परन्तु फिर भी उनका मस्तिष्क और आत्मा अरस्तू ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अरस्तू के इस विपुल लेखन में आसमान के नीचे और धरती के ऊपर पनपने और पैदा होने वाले संसार के सभी विषय आ जाते है।

उसने तर्कशास्त्र पर लिखा है, आत्मा और ईश्वर पर लिखा है, भौतिकी तथा खगोल विद्या पर लिखा है, प्राणिशास्त्र पर लिखा है, मनोविज्ञान और कला पर लिखा है, नीति और जीवनशास्त्र पर लिखा है, राजनीति, शिक्षा और विवाह पर लिखा है—यही नहीं, पुस्तकालय विज्ञान पर भी उसका योगदान है। इनमें से अनेक विषयों का तो वह जन्मदाता ही है। प्राणिशास्त्र आदि वैज्ञानिक विषय तो उसके पहले नहीं के बराबर थे। अपने विशाल संग्रहालय की सहायता से उसने इन विषयों पर महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसका संग्रहालय इतना बड़ा था कि आज लोग आश्चर्य करते है कि उसे जैवी विकास का सिद्धान्त क्यों नहीं सूझ गया, जो अभी गत शताब्दो में ही डार्विन और स्पेंसर को सूझा।

जो हो, अरस्तू ने ज्ञान के विविध अंगोपांगों को वैज्ञानिक ढंग से देखा-परखा, नये अंगों की शोध की तथा उन सब में एकता की प्रतिष्ठा की। अरस्तू के दो हजार साल बाद स्पेंसर ही ऐसा व्यक्ति हुआ जिसने कुछ अंशों में ज्ञान के अनेक अङ्गों को देख-समझकर उन्हें एकसूत्र में पिरोने की चेष्टा की। यदि हम इस बात का भी ध्यान रखें कि अरस्तू के समय में आविष्कार एकदम नहीं के बराबर थे, प्रयोग करने तक की पद्धति का जन्म नहीं हुआ था और केवल देखते रहकर ही किसी वस्तु तथा

उसके तारतम्य को समझने की चेष्टा की जा सकती थी, तो हमें अरस्तू की महानता का कुछ ज्ञान हो सकता है। यद्यपि विज्ञान के आविष्कारों ने कालान्तर में उसकी स्थापनाओं को बहुलांश में गलत साबित कर दिया, परन्तु इससे अरस्तू की न्यूनता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इससे तो वास्तव में उसकी श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है। अरस्तू पहला दार्शनिक था जिसने विज्ञान को अपने निर्णयों का आधार बनाया। उससे पूर्व के सभी दार्शनिक तो बौद्धिक विलास से ही सन्तुष्ट रहे। शायद इसीलिए वह प्लेटो की आलोचना किया करता हो। इसलिए अक्सर यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि अरस्तू प्रथमतः दार्शनिक है अथवा वैज्ञानिक।

● ● ●

अरस्तू के जीवन का संपूर्ण इतिहास निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। वह चिकित्सकों के एक परिवार में उत्पन्न हुआ था और उसका पिता सिकन्दर के दादा का व्यक्तिगत चिकित्सक था। इस वातावरण में रहने के कारण ही संभवतः अरस्तू की वृत्ति वैज्ञानिक मोड़ ले सकी। अपने यौवन में उसने सब प्रकार का जीवन व्यतीत किया था। कुछ लोगों का कहना है कि तीस वर्ष की अवस्था में तमाम दुनिया घूम-घाम चुकने के बाद—जिसमें वह संभवतः भारत भी आया था—वह प्लेटो की 'अकादेमी' में अध्ययन करने एथेन्स गया। कुछ लोगों का कहना है कि वह अठारह वर्ष की अवस्था में ही यहाँ आ गया था। जो हो, अड़तीस वर्ष की अवस्था तक वह प्लेटो के साथ रहा।

प्लेटो उसकी प्रतिभा का कायल था और उसे 'मेधा का अवतार' कहा करता था। उसके पास पुस्तकों का एक विशाल संग्रह था, जो उस समय एक दुर्लभ वस्तु मानी जाती थी। लेकिन प्लेटो से अरस्तू की बनी नहीं और उसने शीघ्र ही अकादेमी से अलग होकर अपनी अलग संस्था की स्थापना की। उसकी ख्याति से प्रभावित होकर मेसेडोनिया के बादशाह फिलिप ने अपने बेटे सिकन्दर की शिक्षा के लिए उसे आमन्त्रित किया। यह अरस्तू के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी क्योंकि आगे चलकर सिकन्दर ने विश्व-विजेता के रूप में बड़ा नाम कमाया।

जब अरस्तू सिकन्दर को शिक्षा देने के लिए मेसेडोनिया पहुँचा, तब सिकन्दर केवल तेरह वर्ष का था। उस समय तक फिलिप ने ग्रीस के नगर राज्यों को समाप्त कर उसे एक शासन के अंतर्गत कर लिया था। वह चाहता था कि सिकन्दर उसके साम्राज्य की प्रतिष्ठा को दूर-दूर तक

प्रसारित करे। सिकन्दर अपने बाप का योग्य बेटा था। उसका चरित्र बचपन से ही इस कार्य के बिलकुल उपयुक्त था क्योंकि उसमें वीरता के सभी गुण तथा दुर्गण बखूबी विद्यमान थे। प्रत्येक नई वस्तु को जान लेने की इच्छा तथा कुछ कर गुजरने की अदम्य आकांक्षा उसकी रग-रग में भरी हुई थी। वह किसी के भी काबू में नहीं आता था। जंगली और खूंख्वार घोड़ों को वश में करना उसके लिए एक मनोरंजन था। फिर वह एक भले विचारक तथा सज्जन दार्शनिक के काबू मै कैसे आ सकता था।

अरस्तू इस उबलते हुए ज्वालामुखी पर कभी नियंत्रण नहीं रख सका। परन्तु उसने उसके सब कार्यों का हार्दिक समर्थन किया। उसने सिकन्दर के भीतर सम्पूर्ण विश्व में राजनीतिक एकता स्थापित करने वाले व्यक्ति की प्रतिभा देखी। कालान्तर में यह सही साबित हुई।

फिलिप ने ग्रीस के लोकतन्त्र का नाश किया था, इसलिए सभी स्वतंत्रता-प्रेमी ग्रीकजन, विशेष रूप से एथेन्सवासी, उसके विरुद्ध हो गये थे। अरस्तू को भी उनका समर्थक पाकर वे अरस्तू के भी शत्रु हो गये। सिकन्दर ने भी दो-तीन साल से अधिक अरस्तू की शिष्यता स्वीकार नहीं की। इसलिए अरस्तू एथेन्स लौट आया और अपने लाइसियम के काम में मन लगाने लगा। यहाँ उसे जीवन भर शत्रुओं के मध्य संघर्ष करते हुए रहना पड़ा। फिर भी वह सिकन्दर का ही समर्थन करता रहा।

प्रसिद्ध नेता और वक्ता, डेमास्थिनीज के नेतृत्व में एथेन्सवासी विरोधी आन्दोलनों का संगठन करते थे। तभी अचानक भारत-आक्रमण से लौटते हुए सिकन्दर मर गया, जिसके फलस्वरूप एथेन्स स्वतन्त्र हो गया। एथेन्स की स्वतन्त्रता का परिणाम अरस्तू के नगर-त्याग में हुआ क्योंकि उसका सहारा ही टूट गया था। उसके सब साथी और सहयोगी भी उससे बिछुड़ गये थे और वह नितांत अकेला रह गया। इसलिए वह भी एथेन्स छोड़ कर कैल्सिस चला गया। इस समय उसे अपार दुःख सहन करने पड़े।

● ● ●

१ (अरस्तू का लाइसियम प्लेटो की अकादेमी से अनेक अर्थों में भिन्न था। अकादेमी में जहां गणित, राजनीति और दर्शन पर जोर दिया जाता था, वहां लाइसियम में जीव विज्ञान तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों को महत्व प्राप्त था। यहाँ विद्यार्थी भी बहुत थे और उनके समुचित संचालन के लिए कुछ नियम आदि भी बनाये गये थे। हर हफ्ते या दस दिन बाद

एक विद्यार्थी संस्था का नियंत्रक चुना जाता था। फिर भी अनुशासन कड़ा नहीं था और छात्र घूमते-फिरते गुरु से विचार-विनिमय करते रहते थे।

अरस्तू की रचनाएं मुख्यतः तीन चार भागों में विभाजित की जा सकती हैं। पहले भाग में तर्कशास्त्र की पुस्तकें आती हैं, जैसे 'कैटेगरीज़', 'पोस्टीरियर एनेलिटिक्स', 'सोफिस्टिकल रिफ्यूटेशन' आदि; दूसरे में वैज्ञानिक कृतियाँ, यथा 'फिज़िक्स', 'मेटीरियोलॉजी', 'नेचुरल हिस्ट्री', 'दि पार्टस ऑव एनिमल्स', 'दि मूवमेन्ट्स ऑव एनिमल्स', 'दि जेनेरेशन ऑव एनिमल्स', 'ऑन दि हेवेन्स', 'ऑन दि सोल', 'ग्रोथ एण्ड डिके' आदि; तीसरे में 'पोइटिक्स', 'रिटोरिक्स' आदि सौन्दर्यशास्त्र विषयक रचनाएं आती हैं; और चौथे में 'एथिक्स', 'पोलिटिक्स', 'मेटाफिजिक्स' आदि दार्शनिक विषयों के ग्रन्थ। इनकी सूची से ही आश्चर्य होता है। किसी भी एक व्यक्ति ने इतने विविध विषयों पर कैसे लिखा होगा। अरस्तू ने साहित्यिक वार्ताएं भी लिखी थीं परन्तु वे इतनी अच्छी नहीं थीं और अब प्राप्त भी नहीं हैं।

प्लेटो से अरस्तू की रचनाओं में एक स्पष्ट अन्तर देखने में आता है। प्लेटो की रचनाएं जहाँ सुललित भाषा में हैं और सौन्दर्य शास्त्र से प्रभावित हैं, वहां अरस्तू की रचनाओं में मनोरंजन और मिठास का नितांत अभाव है और उसके स्थान पर एक खास किस्म की ठोस वैज्ञानिकता है। पहले वह चुने हुए शब्दों में समस्या को प्रस्तुत करता है, फिर उस विषय पर अब तक उपलब्ध सब मतवादों की आलोचना करता है, अपनी आलोचनाओं को अधिक से अधिक तथ्यों से पुष्ट करता है, और तब अन्त में अपने मत की बड़े स्पष्ट शब्दों में स्थापना करता है। उसकी सब महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का ढंग प्रायः इसी प्रकार का है। फिर भी उसके कई ग्रन्थ बहुत अपूर्ण से भी हैं और कई में जल्दबाजी भी की गई प्रतीत होती है। उसकी कई किताबें पाठ्य-पुस्तकों जैसी भी हैं जो शायद लाइसियम में इसी उपयोग में आती हों। इन पुस्तकों में उसके शिष्य-प्रशिष्य संशोधन परिवर्तन करते रहे और पहली शताब्दी ई. पू. में उनका पहला संस्करण एड्रोनिकस ने प्रकाशित किया। इसी के आधार पर बाद में और संस्करण तथा अनुवाद प्रकाशित होते रहे। इस कारण उसकी मूल रचनाओं में फेर-फार हो जाना स्वाभाविक लगता है।

अरस्तू को पाश्चात्य तर्कशास्त्र का जनक कहा जाता है। सुकरात और प्लेटो ने भी यद्यपि इस विषय में काफी लिखा, परन्तु अरस्तू ने ही

पहले पहल उसका शास्त्र और नियमादि बनाए। यद्यपि यह विषय बड़ा जटिल और शुष्क है, परन्तु अत्यन्त आवश्यक भी है। किसी बात को ढंग से कहने पर उस विषय की बहुत सी बहस और अनावश्यक चर्चा अपने आप खत्म हो जाती है। अतः इसमें परिभाषाओं का बड़ा महत्त्व होता है। अरस्तू ने सही परिभाषा के दो भाग बतलाये : उस वर्ग का विवरण जिससे वस्तु सम्बद्ध है, जैसे मनुष्य एक पशु श्रेणी का प्राणी है, फिर वर्ग की अन्य वस्तुओं की तुलना में प्रस्तुत वस्तु की विशेषता और अन्तर, जैसे मनुष्य बुद्धिसम्पन्न पशु है। तर्कशास्त्र के ही कई पक्षों पर अरस्तू ने प्लेटो का जोरदार खण्डन किया।

विज्ञान अरस्तू का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसमें भी जीव विज्ञान पर उसका कार्य बड़ा क्रांतिकारी है। अपने विशाल चिड़ियाघर मे घूमते-फिरते वह सोचा करता था कि जीवन के ये विविध रूप एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध है और शायद एक दूसरे से क्रमशः कुछ आगे भी है। उसने देखा कि जिन प्राणियों में जीवन की मात्रा सबसे कम है, वे प्रायः अचेतन ही है। फिर उनमें धीरे-धीरे जीवन या चेतना का परिमाण बढ़ता जाता है। इससे कुछ बातें और भी स्पष्ट होती हैं : कि जीवन की वृद्धि जटिलता की ओर है, कि इस जटिलता के साथ-साथ बुद्धि का परिमाण भी बढ़ता जाता है, कि बुद्धि क्रमशः प्राणी के सभी क्रिया-कलापों पर नियन्त्रण स्थापित करती जाती है।

वह जैवी विकास के सिद्धान्त को नहीं पकड़ सका और 'सर्वाइवल ऑव दि फिटेस्ट' के विचार का भी, जो उससे पहले एम्पीडोक्लिज प्रकट कर चुका था, खण्डन किया। उसने मस्तिष्क को रक्त ठण्डा करने का यन्त्र घोषित किया। उसने यह भी कहा कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं। इस तरह की उसने बहुत सी गलतियाँ कीं, परन्तु इनसे कहीं ज्यादा सही बातें भी कहीं। जैसे उसने बताया कि प्राणी का जीवन-प्रकार उसके भोजन पर निर्भर करता है और अपना अपना विशेष भोजन प्राप्त करने के लिए ही वे विशेष ढंगों की जीवन शैली अपनाने को बाध्य होते हैं। उसने बताया कि पक्षियों तथा सर्प श्रेणी के प्राणियों में आन्तरिक आकृति की समानता होती है। उसने बताया कि बन्दर चौपायों तथा मनुष्यों के बीच की स्थिति का प्राणी है। उसने यह भी बताया कि कोई प्रजाति या व्यक्ति जितना ज्यादा विकसित और विशेषतायुक्त होगा, उतनी ही कम उसकी सन्तति होगी। दो हजार साल बाद स्पेंसर ने भी यह

बात बताई। उसने और भी बहुत सी बातें बताई जिनका कुछ समय बाद खण्डन किया गया, परन्तु और भी कुछ समय बाद जिन्हें वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर स्वीकार कर लिया गया।

भ्रूण विज्ञान पर भी अरस्तू का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसने मुर्गी के अण्डे को विभिन्न अवस्थाओं में तोड़ कर भ्रूण के विकास का बहुत सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया। प्रजनन शास्त्र के सम्बन्ध में भी अरस्तू ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न रखे। एक गोरी स्त्री ने किसी नीगरो से विवाह किया और उनकी सन्तानें सब गोरी ही हुई, परन्तु दूसरी पीढ़ी में वे सब काली हो गई—इस पर अरस्तू ने प्रश्न रखा कि पहली पीढ़ी में यह कालापन कहां छिपा रहा? उन्नीसवीं शताब्दी में किए गए मेंडल के प्रयोग इससे एक ही कदम आगे थे। किसी ने सच कहा है—सही सवाल रखना ही समस्या का आधा हल पा लेना है।

भौतिकी के सम्बन्ध में अरस्तू की रचना उतनी सबल नहीं है, उसमें विषयों का विवेचन जरा ज्यादा दार्शनिक ढग से किया गया है। पदार्थ, गति, आकाश, काल, अनन्त आदि से अरस्तू इसमें आगे नही बढ़ सके हैं। लेकिन अरस्तू ने यह स्वीकार किया है कि प्रकृति में अवकाश या शून्य नहीं होता। खगोल विद्या के विषय में भी अरस्तू ने कोई विशेष बात नहीं कही। बल्कि उसने कई सही बातों का खण्डन किया। जैसे पैथेगोरस के इस कथन का उसने तीव्र विरोध किया कि सूर्य सब ग्रहों का केन्द्र है। यह सम्मान उसने अपनी पृथ्वी को ही प्रदान किया।

ग्रह नक्षत्रों पर अपनी पुस्तक में उसने अनेक मनोरंजक बातें कही हैं। उसमें इस संसार तथा उसके जीवन को चक्रानुसारी बताया है। सूर्य सदा ही समुद्र को सोखता रहता है, नदियों और झरनों को सुखाता है और फिर यही जल बादल बनकर बरसता है और नदियों तथा समुद्रों को फिर भर देता है। परिवर्तन सर्वत्र हो रहा है, भले ही वह दिखाई न देता हो। सभ्यताएँ बनती है, बिगड़ती है और पुरानी की राख पर फिर नई सभ्यताएँ खड़ी हो जाती हैं। इसीलिए पुराने आविष्कार फिर-फिर दुहराये जाते हैं, पुराने धर्म और मान्यताएँ फिर चल पड़ती हैं। इस तरह मनुष्य की कहानी एक घेरे में घूमती रहती है।

अरस्तू के सृष्टि और ईश्वर सम्बन्धी तत्त्वज्ञान का जन्म भी उनके जीव विज्ञान से ही हुआ। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ने की कामना मौलिक रूप में निहित होती है। प्रत्येक वस्तु

का वर्तमान रूप किसी पदार्थ से विकसित होता है और फिर वह रूप खुद उच्चतर विकास के लिए पदार्थ बन जाता हैं। इस तरह रूप पदार्थ पर विजय पाता चलता है और सृष्टि बढ़ती चली जाती है। परन्तु यह वृद्धि अनियमित ढंग से नहीं होती, भीतर से यह एक निश्चित दिशा की ही ओर संचालित होती है। मुर्गी के अण्डे में मुर्गी ही बनने को ही शक्ति होती है, कबूतर बनने की नहीं।

अरस्तू ईश्वर को मानता है, परन्तु उसका ईश्वर धर्मों और सम्प्रदायों वाला ईश्वर नहीं है। वह ईश्वर को पदार्थ का निर्माता नहीं मानता, उसे गति प्रदान करने वाला मानता है। पदार्थ को वह अनादि मानता है, परन्तु गति को नहीं। गति के बिना पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं है, इसलिए वह अनादि भी हो सकता है, परन्तु गति आते ही पदार्थ बदलने और सर्जन करने लगता है, इसलिए गति अनादि नहीं हो सकती और उसका एक स्रोत भी होना आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार यह स्रोत ही ईश्वर है, जो बनाता नहीं, चलाता है। वह व्यक्ति नहीं, शक्ति है, क्रिया है।

इसी तरह किसी भी प्राणी या व्यक्ति की चेतन शक्ति ही उसकी आत्मा है। यह उसकी सब क्रिया-शक्तियों का योग है। पेड़ पौदों में उनकी पाचन तथा उत्पादन शक्ति उनकी आत्मा है, पशुओं में उनकी अनुभूति तथा उन्हें चलाने-फिराने वाली शक्ति उनकी आत्मा है, मनुष्यों में विचार और तर्क की शक्ति उनकी आत्मा है। शरीर के बिना आत्मा ठहर नहीं सकती और शरीर नष्ट होने पर वह पूरी तरह नष्ट नहीं होती। उसका जो भाग स्मृति से सम्बन्धित होता है, वही नष्ट होता है। शेष जीवित रहता है और वही शुद्ध विचार का अंश होता है।

अरस्तू नैतिकता तथा आचारण की समस्याओं पर भी विचार करता है। परन्तु वैज्ञानिक होने के कारण उसके विचार हवाई नहीं हैं। वे सीधे-सादे तथा प्राकृतिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध हैं। वह अच्छाई को जीवन का उद्देश्य नहीं मानता, सुख को मानता है। वह सुख की व्याख्या करता है तथा उसे प्राप्त करने के उपाय बताता है। वह कहता है कि मनुष्य जिस अर्थ में अन्य सांसारिक प्राणियों से भिन्न है, उस अर्थ को अधिकाधिक उपलब्ध करना और बढ़ाना ही उसे सुख दे सकता है। बुद्धि ही मनुष्य का यह विशिष्ट अर्थ है, अतः सफल बौद्धिकता ही उसका सर्वोत्तम सुख हो सकती है। अच्छाई भी सही निर्णय पर

निर्भर करेगी, जिसमें आत्म-नियन्त्रण तथा सुरुचि का भी योग होना चाहिए। वैसे तो यह काफी अनुभव से ही आ सकता है, परन्तु साधारणतया यह कहा जा सकता है कि मध्यम मार्ग सुख का मार्ग हैं, दोनों ओर की अति सदा दुःख ही देती है। जैसे कायरता और उद्धतता के बीच साहस, कंजूसी और अपव्यय के बीच उदारता, झगड़ालूपन और कातरता के बीच मित्रता, आदि।

अरस्तू के कथनानुसार दरिद्रता तथा ऐश्वर्य के मध्य सामान्य साधन सम्पत्ति प्राप्त करना मनुष्य के सुख के लिए पर्याप्त है। दरिद्रता उसे दयनीय बना देती है, ऐश्वर्य उसे घमण्डी बना देता है, परन्तु सामान्य साधन उसे चिन्ताहीन करके उसके सर्वांगीण विकास का मार्ग खोल देते हैं। जिन बाहरी वस्तुओं की सहायता से मनुष्य अपने सुख को बढ़ा सकता है, उनमें सर्वोच्च स्थान मित्रों का है। मित्र सुख को बढ़ाते तथा दुःख को घटाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अच्छे मित्र अवश्य बनाने चाहिए। परन्तु उसे बहुत ज्यादा मित्र इकट्ठे करने के फेर मे भी नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि बहुत मित्रों का होना एक भी मित्र न होने के बराबर ही है।

अरस्तू कहता है कि पुरुष को अपने से सत्रह साल कम अवस्था वाली स्त्री से विवाह करना चाहिए। तभी उन दोनों की प्रजनन शक्ति का एक साथ क्षय सम्भव है, नहीं तो स्त्री जल्द बेकार हो जाएगी और इस अवस्था में पुरुष पथभ्रष्ट हो सकता है। स्त्री को अरस्तू पुरुष की दासी मानता है। वह कहता है कि अपूर्ण पुरुष ही स्त्री है, जो विकास के धरातल पर एक कदम पीछे रह गई है। अरस्तू स्त्री को मिट्टी मानता है, जिसे रूप देने का कार्य पुरुष को करना होता है। पुरुष सृष्टि का क्रियाशील तत्त्व है, स्त्री निष्क्रिय। पुरुष की वीरता स्त्री पर शासन करने में तथा स्त्री की वीरता पुरुष का अनुगमन तथा उसका आज्ञा-पालन करने में है।

इसी तरह अरस्तू लोकतन्त्री भी नहीं है। वह कुछ चुने हुए व्यक्तियों को, जिनके पास फालतू समय हो, शासन का अधिकारी मानता है। वह कहता है कि सत्ता पर राजा का ही नियन्त्रण होना चाहिए, जिससे राज्य और जनता में भेद की नौबत न आए। राजकुमारी के पति और सिकन्दर के गुरु से इसके अतिरिक्त और आशा भी क्या की जा सकती थी ? लेकिन इसका एक कारण यह भी था कि एथेन्स के लोकतन्त्र

ने विनाश और संहार ही दिया था, जबकि अरस्तू शांति और सुरक्षा की कामना करता था।

उसने प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना का विरोध किया। वह व्यक्ति को नितान्त सामाजिक बना देने के पक्ष में नहीं था, कि सभी बराबर वाले व्यक्ति उसके भाई-बहिन और बुजुर्ग माता-पिता हों। इसे वह कोई भी भाई-बहिन या माता-पिता न होने के बराबर मानता था। वह पारिवारिकता और सम्बन्धों की महत्ता पर बल देता था।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ग्रीक मेधा की महात्रयी हैं। सुकरात के समय ग्रीक सभ्यता का जो सूर्य उदय हुआ, वह अरस्तू के साथ अस्त हो गया। आश्चर्यजनक समानता की बात यह है कि सुकरात की तरह अरस्तू को भी एथेन्सवासियों ने प्राणदण्ड देने का निश्चय किया, परन्तु अरस्तू उतना सज्जन नहीं था और उसने यह कहकर कि मैं एथेन्स को चिन्तन तथा दर्शन के प्रति दूसरी बार पाप करने का अवसर नहीं दूंगा, नगर छोड़ दिया। वैसे यह कायरता भी नहीं थी क्योंकि एथेन्स के कानून के अनुसार प्राणदण्ड-प्राप्त कोई भी व्यक्ति नगर का त्याग करके अपनी प्राण-रक्षा कर सकता था।

लेकिन उसे तो सुकरात का ही भाग्य बदा था और, कहते हैं, कि कुछ ही मास बाद खुद अपने हाथों जहर पीकर उसने आत्महत्या कर ली। इस समय उसकी आयु ६२ वर्ष की थी। तभी उसके शत्रु परन्तु महान् ग्रीक वक्ता डेमास्थिनीज़ ने भी जहर पी लिया। साल भर पहले ही सिकन्दर भी मर चुका था। इन तीनों की मृत्यु के साथ ग्रीक सभ्यता का दीपक सदा के लिए बुझ गया। ●)

स्पिनोज़ा
(१६३२-१७०४)

●

अनातोले फ्रांस ने कहा है : नेपोलियन में यदि थोड़ी समझ और होती, तो वह लड़ाइयाँ छेड़ने के बजाय स्पिनोज़ा की तरह एकांत में चला जाता और दो-चार किताबें लिख डालता।

इसी स्पिनोज़ा के बारे में विल ड्यूरेंट का कथन है : स्पिनोज़ा विश्व का दूसरा ईसामसीह था।

जेकोबी ने जर्मन महाकवि गेटे को जब स्पिनोज़ा की महान् पुस्तक 'एथिक्स' पढ़कर सुनाई, तो गेटे उछल पड़ा और बोला : आज मुझे अपने जीवन का दर्शन मिल गया है। और गेटे की पश्चवर्ती कविताएँ साक्षी हैं कि उसकी कलम से स्पिनोज़ा ही बोलता था।

● ● ●

इन तीन उद्धरणों में पाश्चात्य जगत् के महानतम् दार्शनिक स्पिनोज़ा की तस्वीर की सभी मुख्य रेखाएँ उभरती देखी जा सकती है। चश्मों के शीशे घिसकर अपना पेट पालने वाला यह गरीब यहूदी विश्व के एक अतिशय महत्त्वाकांक्षी सम्राट् के सामने विनम्रता से सिर उठाये खड़ा है। मानवता के लिए क्रास पर चढ़ जाने वाले ईसामसीह के एकदम बगल में उसकी मूर्ति स्थापित है, जिसके शरीर की रग-रग से ईसा की ही तरह खून टपक रहा है। उसकी सन्तुलित और गम्भीर चिन्ता का प्रभाव पश्चाद्-वर्ती युग के गेटे ही नहीं ले रहे है, अपितु फिक्टे, शापेनहावर, नीत्शे, बर्गसां तथा हीगेल जैसे प्रथम श्रेणी के दार्शनिक भी उसके ऋणी हैं, तथा वर्ड्सवर्थ, शेली, बायरन और कॉलरिज जैसे कवि उसके प्रवाह में बहे जा रहे हैं।

यह उदास और विनम्र दार्शनिक, जो अपने जीवन-काल में अपनी किताबें प्रकाशित भी नहीं करवा सका, और जिसे बहुत दिन तक किसी ने महत्त्व नहीं दिया, अपनी मृत्यु के सौ वर्ष बाद एकाएक चमक उठा। शेली ने स्वयं उसकी एक किताब का अनुवाद अंग्रेजी में किया तथा बायरन ने उसकी भूमिका लिखी। उसकी दूसरी किताब का अनुवाद जार्ज इलियट ने किया, जो प्रकाशन से पूर्व ही स्पेंसर जैसे दार्शनिक पर अपना अमिट प्रभाव छोड़कर अपना काम पूरा कर गई क्योंकि, कहते हैं, स्पेंसर उसकी हस्तलिखित प्रति को पढ़ गया था।

प्रथम श्रेणी के अनेकानेक कवियों, लेखकों तथा विचारकों को प्रभावित करने वाला यह स्पिनोज़ा बहुत कुछ एक भारतीय सन्त और दार्शनिक की तरह लगता है। उसका जीवन एकदम सादा और सरल है तथा उसकी चिन्ता में समस्त सृष्टि के आधार रूप ईश्वर की मूलभूत सत्ता की कल्पना है। अपने जीवन के विषय में वह स्वयं कहता है: मैंने देख लिया है कि संसार में प्राप्त होने वाले सभी भोग-पदार्थ अनित्य तथा सारहीन है और इसलिए अब मैं उस वस्तु की खोज कर रहा हूँ जिससे चिरंतन सुख प्राप्त हो सकता है। जो अनन्त और अमर है, वही मनुष्य को स्थाया सुख दे सकता है। समस्त प्रकृति के साथ एकरूप होने के ज्ञान से जो आनन्द प्राप्त होता है, वही सर्वोत्तम आनन्द है।

स्पिनोज़ा उस अभागी यहूदी जाति में उत्पन्न हुआ था जो आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले रोमनों द्वारा जेरूसलम पर अधिकार किए जाने के कारण अपनी मातृभूमि से निर्वासित होकर देश-देश में भटकती फिरी और जिसकी न कोई भाषा शेष रही थी, न कोई धर्म शेष रहा था, और न कोई राजनीतिक संगठन या अनुशासन ही शेष रहा था। परन्तु फिर भी यह अतिशय धैर्यपूर्वक सुदीर्घकाल तक सभी प्रकार के कष्ट सहन करते हुए, अपनी संख्या निरन्तर बढ़ाते हुए तथा उद्योग और ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना योगदान करते हुए उस दिन की प्रतीक्षा करती रही, जब वह अपनी मातृभूमि मे जाकर पुनः शान्तिपूर्वक बस सकेगी। हाल ही में अब उसने स्वतन्त्र इसराईल की स्थापना कर अवश्य ली है परन्तु हिटलर के नरभक्षी आइखमैनों को लाखों लाख—सम्भवतः ६० लाख—निरीह स्त्री-पुरुष और बच्चों की बलि देकर ही यह सम्भव हो सका है।

स्पिनोज़ा के समय उसके जातिवासी स्पेन से खदेड़े जाकर और अफ्रीका से वापस लौटकर हालैण्ड में आ बसे थे। यहाँ उन्होंने अपने

संगठन बनाए, व्यापार कायम किए, जिसका परिणाम यह हुआ कि हालैण्ड श्री-समृद्धि से भरपूर हो उठा। लेकिन उन्हें इस बात का सदा ध्यान रखना पड़ता था कि उनके किसी कार्य से उनके आश्रयदाता नाराज़ न हो जाएँ, जिससे फिर उन्हें अपना डोला-डण्डा लेकर भागना पड़े। इसलिए उन्होंने ऐसे अनेक यहूदी युवकों को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया, जो धर्म की असंगतियों के विरुद्ध मत प्रकट करते थे या कुछ स्वतन्त्र चिन्तन करते थे।

स्पिनोज़ा के पश्चवर्ती जीवन को समझने के लिए उसके मन की इस जातीय भूमिका को समझने की नितांत आवश्यकता है। उसकी शिक्षा धार्मिक वातावरण में हुई थी तथा बचपन से ही उसके मस्तिष्क में सन्देह के अंकुर ने जड़ जमा ली थी, जिसका निवारण करने के लिए उसने लेटिन पढ़ना शुरू किया। जिस व्यक्ति से वह लेटिन पढ़ता था, वह हालैण्ड का एक प्रख्यात विद्वान् था तथा उसकी एक सुन्दरी पुत्री थी, जिसके प्रति स्वाभाविक रूप से स्पिनोज़ा का आकर्षण हुआ। कुछ समय तक तो यह प्रेम चलता रहा लेकिन शीघ्र ही उस युवती ने जान लिया कि स्पिनोज़ा कोरी बातों के अलावा उसे कुछ नहीं दे सकता और तब तुरन्त ही उसने अपने एक धनी और शौकीन युवक मित्र को पसन्द कर लिया। इस घटना का परिणाम यह हुआ कि स्पिनोज़ा, जो अभी तक अधकचरा था, सहसा अब पूर्ण दार्शनिक हो गया।

वह अपनी प्रेम पात्री पर अधिकार नहीं कर सका, परन्तु लेटिन पर उसने अवश्य ही सम्पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया। अब उसने सभी दार्शनिकों के ग्रन्थ मन लगाकर पढ़ डाले। इस समय वह केवल २४ वर्ष का था, लेकिन उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने ईश्वर, देवता तथा धर्म पर अश्रद्धा प्रकट की है। उसे सम्पूर्ण यहूदी समाज के सम्मेलन में जवाब देने के लिए तलब किया गया और उससे कहा गया कि यदि वह इन सब बातों को भविष्य में न करने का वचन दे, तो उसे न केवल क्षमा ही कर दिया जाएगा, अपितु पुरस्कार भी दिया जाएगा। ऐसा न करने पर उसे निर्वासन का कठोर दण्ड भुगतना पड़ेगा।

लेकिन वह डिगा नहीं और उसने निर्वासन का दण्ड स्वीकार कर लिया। उसके पिता ने उसे छोड़ दिया, बहिन ने उसे धोखा देकर उसकी जायदाद का हिस्सा हड़प लिया, और मित्रों ने उसकी कठोर निन्दा की। एक बार किसी ने उस पर छुरे का प्रहार भी किया। वह नगर

छोड़कर चला गया और पहले बच्चों को पढ़ाकर, फिर ऐनकों के शीशे घिसकर अपना जीवन-निर्वाह करने लगा।

स्पिनोज़ा उतना ही काम करता था, जितना उसका पेट भरने को पर्याप्त हो। अब वह नितांत अकेला था। इस समय धीरज रखकर सब कुछ सह सकने की वृत्ति, जो उसे अपनी जाति से विरासत में मिली थी, बहुत काम आई। जीवन भर वह इसको लकुटी मानकर चलता रहा और बिना शिकायत किये अत्याचार तथा एकाकीपन के इस भयंकर कष्ट को चुपचाप सहन करता रहा। साथ ही वह ऐसे विचारों का सर्जन भी करता रहा जो उसके मन को शान्ति दें, जीवन के उसके विश्वास को डिगने न दें तथा उसे सृष्टि का यह सुख-दुःख समझायें। उसका चिन्तन तथा दर्शन सीधे उसके जीवन से तथा उसकी गहरी आवश्यकताओं से ही उत्पन्न हुआ है। शायद इसीलिए वह भविष्य में और भी अनेकों को प्रभावित करने में समर्थ हो सका।

स्पिनोज़ा कभी कभी कहा करता था कि मैं उस साँप की तरह हूँ जो अपनी पूँछ को ही मुँह में दबाये खाता रहता है। इससे उसके जीवन की गहरी करुणा का कुछ पता चलता है। स्पिनोज़ा छोटे कद, सुन्दर चेहरे, घुघराले बाल तथा बड़ी बड़ी आँखों वाला तेजस्वी पुरुष था, परन्तु उसकी तेजस्विता पर इसी करुणा की ऐसी अमिट छाप अंकित थी, जो सहसा बुद्ध या मसीह की याद दिला देती है। वह बहुत मामूली कपड़े पहनता था और एक बार जब उसके एक मित्र ने उसे अच्छा सा सूट देना चाहा, तब उसने यह कहकर इनकार कर दिया कि किसी निरुपयोगी वस्तु को मूल्यवान आवरण में ढकना मेरी समझ में नहीं आता।

इसी एकान्त में रहकर स्पिनोज़ा ने अपनी वे ४-५ मशहूर किताबें लिखीं जिन्होंने दुनिया को हिला दिया। वह किताबें लिखता था और लिखकर अपने बक्स मे रख देता था, क्योंकि वह तो बहिष्कृत और गरीब प्राणी था, उसकी किताबों को कौन प्रकाशित करता और कौन पढ़ता? दस-बारह वर्ष तक ये किताबें यों ही पड़ी रहीं और जब बहुत कठिनाई से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई, तो तत्काल ही उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लेकिन यह प्रतिबन्ध ही उनके लिए सहायक भी सिद्ध हुआ। इससे लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ और वे जूतों के डिब्बों में या अन्य उपायो से उन्हे इधर-उधर पहुँचाने लगे। अधिकांश व्यक्तियों ने तो स्पिनोज़ा की भर्त्सना ही की, परन्तु

कुछ ऐसे भी निकले, और ये समाज में काफी प्रतिष्ठित भी थे, जिन्होंने उसकी प्रतिभा को स्वीकार कर लिया। एक पाठक ने उसे लिखा : क्या तुमने दुनिया भर के सभी दर्शनों को पढ़ लिया है, जो अपनी इन घृणित और गन्दी बातों को परम सत्य मान बैठे हो। विश्व के तमाम श्रेष्ठ राजाओं, उपदेशकों, देवताओं तथा अवतारों के प्रति अपने दिमाग़ का कूड़ा प्रकट करने का साहस तुमने कैसे किया ? तुम जो दरिद्री कीड़े की तरह रेंगने वाले तथा पशुओं से भी बदतर हो······आदि आदि।

लेकिन इसी के साथ ही स्पिनोज़ा की सफलता भी सामने दिखाई देने लगी। एक व्यापारी ने उसके लिए वार्षिक सहायता बाँध देने का प्रस्ताव किया और स्पिनोज़ा के विनम्रतापूर्वक उसे अस्वीकार करने पर अपनी समस्त सम्पत्ति तक दे देने की तत्परता दिखाई। स्पिनोज़ा ने बहुत कुछ कह-सुनकर वह सम्पत्ति उसके भाई के नाम करा दी। फिर भी, जब वह व्यापारी मरा, तो उसके वसीयतनामे में स्पिनोज़ा के लिए रकम लिखी हुई थी। लेकिन स्पिनोज़ा ने उसे भी यह कहते हुए स्वीकार नहीं किया कि 'प्रकृति थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाती है और जितने से वह सन्तुष्ट है, उतने से ही मैं भी सन्तुष्ट हूँ।'

स्पिनोज़ा की ख्याति यहाँ तक बढ़ी कि हालैण्ड के बादशाह ने हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र की पीठ को सुशोभित करने का आग्रह करते हुए उसे एक व्यक्तिगत पत्र लिखा। लेकिन इसमें कुछ शर्तें भी थीं, इसलिए बहुत ही विनम्रतापूर्वक तथा हार्दिक धन्यवाद देते हुए इस सन्त ने उत्तर में यह लिखा कि 'इससे मेरे चिन्तन की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ेगी, अतः मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकूँगा। मैं अपनी वर्तमान स्थिति से ही सन्तुष्ट हूँ।'

● ● ●

स्पिनोज़ा का ईश्वर और सृष्टि सम्बन्धी चिन्तन उसका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। पहले इसे संक्षेप में देखें। वह ईश्वर को समस्त सृष्टि का केन्द्रबिन्दु मानता है। वह कहता है कि जो कुछ भी दृष्टव्य और अनुभव-गम्य है, वह समस्त अपने मूल में एक है तथा केन्द्र से बँधा हुआ है। वह केन्द्र ही ईश्वर है, परन्तु वह सृष्टि के विविध पदार्थों या प्रकृति का कारण नहीं है। इन दोनों की एक साथ सत्ता है, बस इतना ही। सृष्टि ईश्वर का परिणाम नहीं है, रूप है। इस तरह दोनों की गहरी अभिन्नता है। ईश्वर कोई ऐसा शरीरधारी भी नहीं है, जो सृष्टि में रहने वाले

जीवधारियों के भाग्य का नियन्त्रण या संचालन करता हो। भाग्य कुछ भी नहीं है। जो हमें भाग्य जैसा प्रतीत होता है, वह निसर्ग का नियम है, जो सदा अखण्ड और एक सा है। इस नियम में कोई फेरबदल सम्भव नहीं है। ईश्वर भी इसे बदल नहीं सकता। ईश्वर और उसकी सृष्टि में जो अमर और नित्य है, उसका कुछ अंश मस्तिष्क में निहित है। गहरे अनुभव से भी हमें ऐसा ही प्रतीत होता है। मनुष्य को चाहिए कि अमरत्व के उसी अंश को पकड़े और सुख प्राप्त करे। बुद्धि की सहायता से वह निसर्ग में अपने स्थान को समझे तथा सब के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाते हुए सन्तोषपूर्वक जीवित रहे।

अब जरा विस्तार से स्पिनोज़ा के दर्शन को देखते हैं। उसने सिर्फ चार किताबें लिखी हैं, जिनमें से एक तो पूरी भी नहीं हो सकी। पहली किताब धर्म और राज्य पर है जिसमें बाइबिल की विशेष रूप से चर्चा है। इसमें बाइबिल के दोनों टेस्टामेंटों में भेद न करते हुए यहूदी और ईसाई धर्मों को एक बताया गया है। कहा गया है कि बाइबिल मुख्यतः उपमा अलंकार का ग्रन्थ है क्योंकि जनता को समझाने के लिए उनकी आवश्यकता पडती है। इसीलिए चमत्कारों का भी उसमें विशेष स्थान है। वैसे स्पिनोजा ईसा को देवदूत नहीं मानता, मानवता का श्रेष्ठ शिक्षक ही मानता है। न वह ईश्वर को किसी सांसारिक कर्म का कर्ता ही मानता है। वह कहता है कि ईश्वर और प्रकृति एक है—और यही स्पिनोज़ा के दर्शन का मूल विचार है।

दूसरी किताब बुद्धि के विकास के सम्बन्ध में है। इसमें कहा गया है कि ज्ञान ही शक्ति है, स्वतन्त्रता है, किसी विषय या वस्तु को सही-सही समझने पर ही सच्चा और स्थायी सुख प्राप्त होता है। फिर वह कहता है कि अमुक ज्ञान ही ज्ञान है, इसका निर्णय कैसे हो? इसका विवेचन करते हुए वह ज्ञान के चार प्रकार बताता है और उनमें क्रमशः निकृष्ट और उत्तम का भेद स्पष्ट करता है। अपनी अगली किताब में उसने ज्ञान के तीन ही प्रकार बताये हैं: सुना-देखा ज्ञान, तर्कशुद्ध ज्ञान और आन्तरिक ज्ञान। तीसरे प्रकार के ज्ञान को ही वह सर्वोत्तम मानता है क्योंकि वह ईश्वर और सृष्टि के सही ज्ञान तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

उसकी तीसरी पुस्तक 'एथिक्स' चारों में सबसे महत्त्वपूर्ण है और आधुनिक दर्शन के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में से एक है। पर आचारशास्त्र का

विवेचन इसमें कम है, तत्वज्ञान का ज्यादा। यह बहुत जटिल भी है क्योंकि स्पिनोज़ा ने इसमें विषय को ज्यामिति तथा अन्य गणित के ढंग से प्रस्तुत किया है जिससे प्रत्येक बात का सूक्ष्मतम विवेचन हो सके। बिना टीकाओं की सहायता से इसे पढ़ना और समझना सम्भव नहीं है, परन्तु एक बार मेहनत करके पढ़-समझ लेने के बाद व्यक्ति स्पिनोज़ा का भक्त और उसके दर्शन का प्रेमी हो जाता है। सच भी यही है कि गणित की सहायता के बिना दर्शन की सूक्ष्मता को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, परन्तु ऐसा कर पाना बड़ा कठिन है। स्पिनोज़ा का गणित का ज्ञान उत्तम था और उसकी सहायता से उसने विश्व की पहेली को समग्रता से हल कर डालने की चेष्टा की।

पुस्तक में सबसे पहले ईश्वर की चर्चा है। उसे कई नामों से अभिहित किया गया है : तत्त्व, प्रकृति, ईश्वर आदि। चार प्रकार के तर्कों से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है। पहला तर्क तात्त्विक है, कि मूल तत्त्व के रूप में किसी की स्थिति मानना जरूरी है जो अनन्त होनी चाहिए और सत्ता अनन्त का ही एक गुण है। दूसरा तर्क इसी से निकलता है, कि ईश्वर की सत्ता के विषय में कोई तार्किक विरोध नहीं है और तार्किक दृष्टि से जो असम्भव नहीं है, उसकी सत्ता हो सकती है। तीसरा तर्क यह कि सांत व्यक्तियों के रूप में हमने स्वतः अपने को उत्पन्न नहीं किया है, हम अन्य किन्हीं सांत व्यक्तियों द्वारा ही उत्पन्न है, अतः किसी एक अनन्त सत्ता का होना अनिवार्य है जो अपना कारण स्वयं ही हो। चौथा तर्क यह, कि अनन्त सत्ता अनन्त शक्तिसम्पन्न भी होनी चाहिए और इसलिए वह अपनी ही उत्पत्ति और स्थिति के भी पूर्ण योग्य होगी।

वास्तव में यह विचारधारा देकार्त की अनुगामी है यद्यपि इसका खण्डन भी किया गया है। किसी पूर्ण सत्ता की कल्पना मात्र से उसकी स्थिति प्रमाणित नहीं होती। न किसी भी तार्किक विरोध के अभाव में किसी विचार की सत्ता निश्चित हो जाती है। अनन्त काल और स्थान में फैले सांत व्यक्तियों के संसार के होने से किसी अनन्त व्यक्ति की आवश्यकता को मान लेना उचित नहीं है। इसी तरह विचार मात्र को इतना शक्तिसम्पन्न मान लेना, चाहे वह अनन्त सत्ता का ही विचार क्यों न हो, कि वह अपनी या दूसरों की सृष्टि कर सके, उचित नहीं है। जो हो, यह बहस निर्णयात्मक हो ही नहीं सकती और स्पिनोज़ा की महत्ता इस बात में है कि उसने इस विचार का पूरा ढाँचा खड़ा कर दिया, उसमें माँस-पेशियाँ लगाकर जान डाल दी और कपड़े-लत्ते पहनाकर दर्शन के

दरबार में खड़ा कर दिया। लोग प्रभावित भी हुए क्योंकि अभी तक इतनी सम्पूर्ण वस्तु किसी ने नहीं देखी थी।

बुद्धि और द्रव्य को स्पिनोज़ा ईश्वर के गुण मानता है। तात्पर्य यह कि ईश्वर एक साथ ही बौद्धिक तथा भौतिक दोनों ही है। ये दोनों गुण आकाश में अनन्त होकर फैले हुए हैं और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। ऐसे ईश्वर में मनुष्य के सामान्य गुण नहीं होते। भौतिक रूप में वह महान् गणितज्ञ और यान्त्रिक है, यानी समग्र प्रकृति को वह गणित के नियमों के अनुसार चलाता है। ज्यामिति की तरह वह चिरंतन है। ईश्वर ने काल के किसी क्षण में विश्व का निर्माण नहीं किया—ठीक इसी तरह जैसे ज्यामिति के सिद्धान्तों तथा स्वयंसिद्धों ने किसी विशेष समय में थियॉरम्स की रचना नहीं की। विस्तार का सिद्धान्त ईश्वर के भीतर काल के विचार के बिना ही निहित है। ईश्वर ने संसार बनाया नहीं, वह संसार है। साथ ही ईश्वर बुद्धि भी है। वह सचेत है तथा अपनी गणितीय और तार्किक पूर्णता से बौद्धिक आनन्द का अनुभव करता है।

पूर्ण होने के कारण ईश्वर को हमारे जैसी इच्छाएँ और वासनाएँ नहीं हैं। इसलिए उसके न कोई उद्देश्य हैं, न कोई योजनाएँ ही है। उसने मनुष्य के लाभ के लिए वस्तुओं की रचना नहीं की और न वह नियमों को तोड़कर चमत्कार ही दिखाता है। यही वह स्थल है जिसने स्पिनोज़ा को यहूदी तथा ईसाई दोनों का शत्रु बना दिया। दोनों ने उसे इसलिए नास्तिक कहा कि वह ईश्वर को मनुष्य का रक्षक तथा दयालु पिता नहीं मानता था, जिससे प्रार्थना की जा सके और जिससे सहायता माँगी जा सके। सच यह है कि स्पिनोजा नास्तिक नहीं है क्योंकि वह ईश्वर में पूर्ण विश्वास करता है और इस विश्वास से अपनी आन्तरिक शान्ति प्राप्त करता है।

धर्मों और स्पिनोज़ा के ईश्वर में अन्तर यह है कि जहाँ धर्मों का ईश्वर अधकचरे विचारों और मानवी इच्छा-आकांक्षाओं की पूर्ति पर आधारित है, वहाँ स्पिनोजा का ईश्वर विज्ञान और प्रकृति के नियमों से निकलता है और गणित से उसका रूप निश्चित होता है। स्पिनोज़ा की दृष्टि में ईश्वर सब है, और सब ईश्वर है। इसमें भारतीय अद्वैत की भी हलकी सी झलक है। हीगेल ने स्पिनोजा के ईश्वर को शेर की गुफा कहा है, जिसमें सब प्राणी जाते तो दिखाई देते हैं, परन्तु लौटता कोई नहीं दिखाई देता।

अब प्रश्न यह होता है कि एक से अनेक कैसे प्रकट हुए ? इसका उत्तर उसने पर्याय की थियरी बनाकर दिया है। पर्याय दो प्रकार के हैं : अनन्त और सांत, या नित्य और अनित्य। ईश्वर के अनन्त पर्याय हैं गति और विश्राम। तात्पर्य यह कि संसार के सभी पदार्थ या तो गतिमान रहते हैं, या स्थिर रहते हैं, और व्यक्तिगत रूप से वे भले ही कम-ज्यादा गति करें, संयुक्त रूप से उनकी गति का परिमाण सदा एक ही रहता है। वैसे इस विषय की सभी बातें बड़ी अस्पष्ट हैं और उनका प्रमाणित होना भी सरल नहीं है।

सांत पर्याय हम स्वयं हैं—मनुष्य, वृक्ष, पशु, पत्थर आदि। इन सभी वस्तुओं में विचार और विस्तार के गुण होते हैं। तात्पर्य यह कि ये वस्तुएँ एक साथ ही बौद्धिक और भौतिक दोनों ही होती हैं। जैसे मनुष्य का मस्तिष्क उसके शरीर का बौद्धिक भाग है और उसका शरीर उसके मस्तिष्क का भौतिक प्रतिरूप है, तथा तत्वतः दोनों मूलतः एक ही वस्तु यानी ईश्वर हैं। इसे बौद्धिक-भौतिक समानान्तरवाद कहते हैं। इसी में से यह भी तथ्य निकलता है कि शरीर यदि कम जटिल होगा, तो बुद्धि भी कम विकसित होगी, शरीर अधिक जटिल होगा, तो बुद्धि अधिक विकसित होगी। पत्थर एकदम सादा होता है, उसके बुद्धि नहीं होती। वृक्ष मामूली जटिल होते हैं, उनकी चेतना साधारण होती है। मनुष्य सबसे ज्यादा जटिल है, उसकी बुद्धि भी सबसे बड़ी है।

स्पिनोज़ा की चौथी किताब राजनीति पर है, जो अधूरी है। यह उसकी परिपक्वता की अवस्था की रचना है, और इसे पढ़कर लगता है कि यदि वह और भी जीवित रहता—मृत्यु के समय उसकी अवस्था केवल ४५ वर्ष की थी—तो न जाने कितनी उत्तम वस्तुएँ देता। ऐसे समय में जब हॉब्स जैसे दार्शनिक अनियन्त्रित राजतन्त्र का समर्थन और जनान्दोलन का विरोध कर रहे थे, स्पिनोज़ा ने उस उदार तथा लोकतन्त्री व्यवस्था की कल्पना दी, जिसकी परिणति रूसो तथा फ्रेंच की राज्यक्रान्ति में हुई।

स्पिनोज़ा राज्य को दैवी स्रोतों से उत्पन्न नहीं मानता। वह किसी भी समाज-व्यवस्था या शासन को तभी तक उचित मानता है, जब तक उसकी उपयोगिता बनी रहे, ऐसा न होने पर उसकी सत्ता का कोई औचित्य नहीं रहता। शासन के सब प्रकारों में लोकतन्त्र को ही वह सबसे स्वाभाविक तथा व्यक्ति-स्वाधीनता के सबसे समीप मानता है। पुस्तक इसी अध्याय से अधूरी है और लोकतन्त्र सम्बन्धी स्पिनोज़ा के

विस्तृत विचारों का पता नहीं चलता। राजतन्त्र का अध्याय पूरा है, और स्पिनोज़ा कहता है कि राजा को भी कोर्ट द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करना चाहिए। वह राज्य को धर्म का कोई मन्दिर खड़ा करने की इजाजत नहीं देता, समूहों को ऐसा करने की स्वतन्त्रता हो सकती है। समस्त सम्पत्ति भी राजा की नहीं, अपितु राज्य की होनी चाहिए। ये विचार रखने के कारण ही स्पिनोज़ा ने फ्रेंच सम्राट् से पेंशन लेना स्वीकार नहीं किया।

स्पिनोज़ा कहता है कि राज्य के सेकुलर अधिकारियों को कानून के सभी विषयों पर, जिनमें धर्म सम्बन्धी कानून भी सम्मिलित है, पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। वह कहता है कि इन विषयों में धर्माचार्यों को भी सेकुलर अधिकारियों के अधीन ही रहना चाहिए। उन दिनों विभिन्न चर्चों के नेता ईश्वर के नाम पर राज्य तथा शासन के लिए आदेश जारी किया करते थे, उसी का यह विरोध है। साथ ही स्पिनोज़ा यह भी कहता है कि इच्छानुसार किसी देवी-देवता या ईश्वर की पूजा करना व्यक्ति का अपना अधिकार है, इस पर राज्य या चर्च किसी का हस्तक्षेप नहीं हो सकता। इसी तरह स्वतन्त्र विचार और प्रकाशन का अधिकार प्रत्येक विद्वान् को प्राप्त है। विज्ञान और कलाओं के विकास के लिए इस स्वतन्त्रता की महती आवश्यकता है। स्पिनोज़ा के इन विचारों में जान स्टुअर्ट मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का पूर्व रूप प्राप्त होता है। समय को देखते हुए यह अत्यन्त साहस तथा वीरतापूर्ण विचार थे।

● ● ●

आजीवन सहे गए कष्टों ने स्पिनोज़ा को भीतर ही भीतर सुखा डाला था। शीशों की धूल के कारण उसकी श्वास-नलिका भी अवरुद्ध हो गई थी। ४५ वर्ष की अवस्था में अपनी अन्तिम किताब लिखकर उसने उसे बक्स में रख दिया तथा उसकी चाभी अपने मित्र को, जिसके यहाँ वह रहता था, दे दी। वह बहुत बीमार रहने लगा था परन्तु मानसिक रूप से शान्त और प्रसन्न था। एक दिन जब घर के लोग गिरजाघर गए, वह कुछ स्वस्थ था और काफी दिनों के बाद अपनी किताब देख रहा था। पर जब वे वापस आए, तो उन्होंने देखा कि यह विनम्र दार्शनिक अब इस संसार में नहीं रहा है।

सौ वर्ष तक शिक्षित समुदाय में उसकी कद्र नहीं हुई, लेकिन एक दिन वह जैसे सहसा कब्र से उठकर खड़ा हो गया और बवण्डर की तरह

संसार पर छा गया। शीघ्र ही पश्चिमी जगत् का प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने को स्पिनोज़ा का ऋणी अनुभव करने लगा। सौ वर्ष और भी बीते और उसकी दूसरी शताब्दी पर जब कुछ लोगों ने उसका स्मारक खड़ा करने का प्रस्ताव रखा, चारों ओर से सहायता की जैसे बाढ़ सी आ गई और लगा कि इतने व्यापक प्रेम तथा श्रद्धा के आधार पर अब तक किसी का भी स्मारक नहीं बना है। रेनान ने इसका उद्घाटन करते हुए कहा : यहाँ से गुजरते हुए जो इस कुलीन तथा नम्र दार्शनिक की स्मृति में सिर नहीं झुकायेगा, उसे दण्ड मिलेगा—यह दण्ड उसे उसकी अपनी आत्मा ही देगी और कहेगी कि तुमने स्पिनोज़ा के प्रति अपनी कृतज्ञता की भरपाई नहीं की है। ●

बर्कले

१६८५-१७५३

●

बर्कले के इस कथन का कि समस्त ज्ञान संवेदन मात्र है, और वस्तुओं की सत्ता बाहर न होकर मन के भीतर ही होती है, अच्छा मज़ाक एक दफा "गुलिवर्स ट्रैविल्स" के हँसोड़ रचयिता स्विफ़्ट ने उड़ाया। कहानी यों है कि एक दफा बर्कले जब स्विफ़्ट के घर गया, स्विफ़्ट ने दरवाज़ा नहीं खोला, और कहा कि अगर तुम्हारा दार्शनिक चिन्तन सही है, तो तुम बन्द दरवाज़े से भी उसी तरह अन्दर आ सकते हो, जिस तरह खुले दरवाजे से, क्योंकि दरवाज़ा तो तुम्हारे मन के भीतर है, जिसे तुम्हारी आत्मा अनुभव कर रही है, बाहर तो वह है ही नहीं।

इसी तरह बर्कले ने जब अपनी सर्वोत्तम रचना, 'प्रिंसिपिल्स आव ह्यूमन नॉलेज' प्रकाशित की, तब एक डाक्टर ने उसकी परीक्षा करके बताया कि बर्कले पागल हो गया है, एक पादरी ने नवीनता के उसके शौक की तीव्र भर्त्सना की, और कुछ लोगों ने हँसकर यह कहा कि आयरिश ऐसे ही अव्यावहारिक होते है, उनसे नाराज़ होना अपनी ही मूर्खता प्रकट करना है।

दार्शनिकों का अक्सर यह दुर्भाग्य रहता है कि लोग उन्हें उलटा ही समझने लगते हैं, जो उनका वास्तविक तात्पर्य होता है, उसका बिलकुल विपरीत ही वे ग्रहण करते हैं। इसमें कुछ गलती तो दार्शनिकों की खुद होती है, कि वे ठीक-ठीक शब्दों का प्रयोग नहीं करते या अपने तर्कों द्वारा निकलने वाले परिणामों का अनुमान नहीं लगा पाते, और कुछ गलती जनता की होती है, जो दार्शनिकता की गहराइयों में जाने की योग्यता नहीं रखती और चाहती यह है कि हर बात में अपनी टाँग अड़ाये। बर्कले

के समस्त कार्य का सार यह है कि उसने ज्ञान के मार्गों और उपायों को सरल बनाने की चेष्टा की, उनकी गलतियों को दूर करना चाहा, यानी अब तक के दार्शनिकों ने ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र मे जो जटिलताएँ तथा अनावश्यक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी थीं, उन सब के कूड़े-करकट को दूर करके हवा को साफ़ करना चाहा। उसने कहा कि वातावरण में जो 'विद्वता की धूल' उड़ रही है, उसे मै दूर कर रहा हूँ। उसने अपने को प्रोफेसरों का नहीं, साधारण जनता का साथी बताया और 'कामनसेंस' की बातें कहने की घोषणा की। परन्तु हुआ यह कि उसकी बातें साधारण क्या, विशेष पढ़ी-लिखी जनता के पल्ले भी नहीं पड़ती थीं, और उसने खुद 'संवेदन', 'मन', 'अनुभूति', 'आत्मा' और 'ईश्वर' आदि शब्दों की ऐसी घनी धूल उड़ाई कि आगे-पीछे का कुछ भी दीखना बन्द हो गया।

इसका एक कारण तो यह है कि भाषा यद्यपि उसने रोजमर्रा की बोलचाल की लिखी और बड़े रोचक तथा खण्डन-मण्डन के ढंग से अपने चिन्तन को प्रस्तुत किया, परन्तु शब्दावली का प्रयोग उसने नहीं बदला और पुराने सब दार्शनिकों द्वारा व्यवहृत टेक्निकल शब्दों से ही अपनी बात कहता रहा। दूसरा कारण यह कि ज्ञान-मीमांसा के अलावा, जो बहुत ही शुष्क विषय है और दैनिक जीवन की बातों से काफी दूर पड़ता है, दर्शन के अन्य विषयों पर उसने कुछ विशेष नहीं कहा, जिससे उसकी चिन्ता का सन्तुलन बिगड़ गया और लगने लगा कि एक ही बात को जरूरत से ज्यादा खींचा जा रहा है। यह कहना कि सामने रखी मेज़ का अनुभव मेरे भीतर स्थित ईश्वर करता है, सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टि से भले ही सही हो, सुनने में बड़ा अजीब लगता है। यह 'कामनसेंस' की बात नहीं प्रतीत होती। यह भी लगता है कि इन्द्रियों के अनुभव की मामूली बात से ईश्वर को जोड़ देना शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से शायद ठीक न भी हो, क्योंकि इससे बहुत अनायास ही ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती प्रतीत होती है और इतने गहरे विषय को इतने हलके ढंग से सिद्ध कर देना उचित नहीं कहा जा सकता।

जो हो, ब्रिटेन के अनुभववादियों की त्रयी—लॉक, बर्कले और ह्यूम—में बर्कले का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे पहले के दार्शनिकों ने सृष्टि की व्यवस्था के जो सिस्टम खड़े किए थे, जिनमें उन्होंने ईश्वर, मनुष्य, प्रकृति आदि सब की पारस्परिक सम्बद्धता की व्याख्या करके सब के स्थान और कार्य भी बतला दिए थे, परन्तु जिनमें आपस में बहुत

मतभेद था, उनके विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के रूप में अनुभववाद उत्पन्न हुआ। इन्होंने कहा कि इन बड़ी बड़ी बातों को फिलहाल छोड़कर मनुष्य की व्याख्या करो और इससे भी पहले ज्ञान के सही रूप की व्याख्या कर लो। इसका श्रीगणेश लॉक ने 'एस्से ऑन ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' नामक अपना ग्रन्थ प्रकाशित करके किया। लगभग सौ साल तक, अर्थात् कांट के उदय तक, यह युग चलता रहा और इसमें नए विचारों का बड़ी तीव्रता से उदय हुआ। इसी युग में इंगलैण्ड (१६८८), अमेरिका (१७७६) और फ्रांस (१७८९) की महान् राज्यक्रांतियाँ हुईं। इस युग में बुद्धिमान व्यक्तियों ने प्राचीन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से अपने को मुक्त किया। धार्मिक सहिष्णुता, राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता, विचारों के प्रचार और प्रकाशन की स्वाधीनता, शिक्षा में विश्वास, जादू-टोनों और चमत्कारों से मुक्ति आदि इसी युग की देनें हैं। यह महत्वपूर्ण कार्य लॉक ने शुरू किया, बर्कले ने उसे आगे बढ़ाया और ह्यूम ने उसे पूर्ण किया। इसके बाद तो उसकी लहर ही आ गई जो इंगलैण्ड से फ्रांस, अमेरिका आदि में फैलती गई।

● ● ●

बर्कले के दादा यद्यपि अंग्रेज थे, परन्तु वे आयरलैण्ड में आकर बस गए थे और यहीं बर्कले का जन्म भी हुआ। इस कारण वह अपने को आयरिश ही समझता और मानता रहा, तथा उसकी शिक्षा-दीक्षा भी यहीं हुई। उसका परिवार सुखी था और बचपन से ही उसका बौद्धिक चातुर्य प्रकट होने लगा था। कहते हैं, स्विफ्ट ने एक बार बर्कले के अर्ल से बर्कले का परिचय इस प्रकार कराया—श्रीमन्, यह आपके परिवार का एक युवक है और मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि उससे आपका सम्बन्धित होना आपसे उसके सम्बन्धित होने की अपेक्षा अधिक सम्मान-पूण है।

डबलिन में बर्कले की शिक्षा हुई, जहाँ उसने बॉयल, न्यूटन तथा लॉक की रचनाएँ पढ़ीं। इनका प्रभाव उसके विचारों पर हुआ और आरम्भिक यौवनावस्था में ही उसने अपने भावी चिन्तन के मूल विचार स्थिर कर लिए। वह इस निश्चय पर आ गया कि यदि विज्ञान और दर्शन को व्यर्थ की हवाई बातों से मुक्त कर दिया जाए, तो ज्ञान और आस्था का आपसी झगड़ा समाप्त हो सकता है। इसलिए उसने लोगों को वास्तविक अनुभव और अन्तरानुभूति की ओर ले जाने का प्रयत्न शुरू कर दिया। उसने कहा कि अमूर्त विचार जैसी कोई चीज़ नहीं होती।

२५ साल की उम्र में उसने अपनी प्रमुख पुस्तक लिखी, परन्तु इससे पहले भी वह छोटी-मोटी चीजें लिख चुका था। तीन साल बाद उसने अपनी दूसरी प्रमुख पुस्तक भी लिख डाली और चारों तरफ उसका नाम फैल गया। २०-२२ साल की उम्र से ही उसने अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए नोट बुकों में विभिन्न दार्शनिक विषयों पर अपने विचार लिखना शुरू कर दिया था। दो नोट बुकों में उसके लिखे हजार के लगभग विषय पाए गए हैं, जो एक महान् दार्शनिक की अपनी तरह की अनोखी चीज़ है। इनमें गहरे विचार तो हैं ही, विभिन्न दार्शनिकों और वैज्ञानिकों पर तीखे व्यंग्य भी किए गए हैं। इनमें 'निरर्थक', 'हास्यास्पद', 'असम्भव' आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इसके हर पृष्ठ पर खण्डन और विद्रोह के चिह्न हैं। पर यह दार्शनिक की अपनी व्यक्तिगत वस्तु है और प्रकाशन के लिए नहीं है। इसमें उसके चिन्तन का विकास बड़ी स्पष्टता से देखा जा सकता है।

इन नोट बुकों में उन बहुत से विषयों की भी चर्चा है, जिन पर बर्कले ने पुस्तकें नहीं लिखीं और शायद समय पाने पर लिखता। यदि ऐसा हो सकता, तो उसका दर्शन और भी अधिक पूर्ण हो जाता। सच तो यह है कि ये किताबें शायद उसने लिखी भी थीं, परन्तु उनकी पांडुलिपि इटली यात्रा में कहीं खो दी। उन्हीं को फिर से दुबारा लिखना उसे पसन्द नहीं आया। शायद यह भी सच है कि वह अनेक खण्डों में दर्शन, विज्ञान तथा गणित की सम्पूर्ण मीमांसा करना चाहता था, क्योंकि उसका ख्याल यह था कि उसने उस कुंजी को पा लिया है, जिससे सभी कमरे खोले जा सकते हैं, और उनकी सफाई करके उन्हें फिर से व्यवस्थित किया जा सकता है। वह कहता था कि 'मुझे इसका ताज्जुब नहीं है कि इतना विलक्षण, यद्यपि इतना स्पष्ट, सत्य मैंने पा लिया है, मुझे ताज्जुब यह है कि मैंने अपनी मूर्खता के कारण उसे इतनी देर बाद क्यों पाया है।' इसलिए, वह कहता था कि प्रत्येक व्यक्ति को इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

बर्कले का यह अद्भुत सत्य था 'सत्ता' की वास्तविक प्रकृति, रूप तथा अर्थ का आविष्कार। यानी सत्ता वह है जो अनुभव की जाए, जिसका संवेदन मनुष्य को प्रतीत होता हो। इस तरह सत्ता और उसका अनुभव दो अलग चीज़ें नहीं हैं, और यह भेद दूर कर देने पर बहुत सी बातें सुलझ जाती हैं। अब इसका नतीजा क्या निकला ? यह कि बाह्य पदार्थों का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। अस्तित्व उस आत्मा या मन का है,

जो उन पदार्थों से संवेदन ग्रहण करता है और ये संवेदन उन पदार्थों के नहीं, उनके गुणों के ही होते हैं। इसी बात को आगे बढ़ाकर उसने यह कहा कि सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ ईश्वर के मस्तिष्क के भीतर है। जो हम देखते हैं, वह सब भी ईश्वर के मस्तिष्क के भीतर ही है। 'उसका मस्तिष्क और इच्छाशक्ति ही जमीन और आसमान के तमाशे को उठाए है।'

यहाँ बर्कले एक गलती कर गया। उसने यह नहीं सोचा कि मेज़ या कुर्सी वस्तुतः न हो, तो आत्मा या ईश्वर में उसका संवेदन कैसे हो सकेगा? तात्पर्य यह कि उसने अपने अनुभववाद को जरूरत से ज्यादा सरल बना दिया। शायद यह उम्र की कमी के कारण हो। इसी कारण वह पक्का ईश्वरवादी भी बन गया और पादरी के रूप में चर्च की सेवा तथा अनीश्वरवादियों की निंदा करता रहा। परन्तु आगे चलकर ह्यूम ने उसके दर्शन को और भी परिमार्जित किया तथा ईश्वर, आत्मा वगैरह को उसमें से निकाल दिया।

२८ साल की उम्र में बर्कले लंदन आया। उसका नाम उससे पहले ही लंदन पहुँच चुका था, और सभी ने उसका स्वागत किया। वेल्स की राजकुमारी भी उससे बहुत प्रभावित हुई। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि लोगों ने उसके विचारों को स्वीकार कर लिया था, लोगों ने तो उसके युवक दार्शनिक व्यक्तित्व को ही स्वीकारा था। वह किसी राजनीतिक दलबंदी से सम्बद्ध नहीं था, इसलिए भी उसे सबसे मिलने-जुलने में सुविधा हुई। स्विफ़्ट, एडीसन, स्टील और पोप जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों से उसकी मित्रता हुई। स्विफ़्ट बड़ा प्रभावशाली था और उसने बर्कले का परिचय अनेक धनी-मानी व्यक्तियों से कराया। ऐसे ही एक परिचय के फलस्वरूप उसकी यूरोप-यात्रा का मार्ग खुल आया और वह इटली, फ्रांस आदि घूमने चला गया। कहते हैं, पेरिस में वह प्रसिद्ध दार्शनिक, मालेब्रांख, से मिला और उसकी प्रखर तर्कशक्ति से यह बूढ़ा दार्शनिक इतना विस्मित हुआ, कि उसकी तत्काल मृत्यु ही हो गई। यह घटना इस सीमा तक शायद सही नहीं है, फिर भी इस कथा से बर्कले के तर्क की प्रखरता पर तो प्रकाश पड़ता ही है।

कुछ समय बाद बर्कले इंगलैण्ड लौट आया और डबलिन के जिस कालेज में वह फैलो था, वहाँ वापस जाने का विचार करने लगा। उसकी छुट्टी भी अब बीत चुकी थी और कालेज के अधिकारी नाराज़ हो रहे थे। परन्तु वह गया नहीं क्योंकि इस बीच चर्च के कामों में आगे बढ़ने में

उसकी रुचि हो गई थी। पहले तो उसे कोई खास सफलता मिली नहीं, पर फिर एक पादरी के लड़के के शिक्षक और साथी के रूप में विदेश जाने का उसे अवसर मिल गया। इस बार लगभग चार साल तक वह बाहर रहा, परन्तु घूमने-फिरने के अलावा कोई विशेष कार्य उसने नहीं किया।

जब वह ट्रिनिटी कालेज वापस पहुँचा, तब वह सीनियर फैलो बना दिया गया। परन्तु इससे उसका मन नहीं भरा और कोई अन्य ऊँचा पद पाने के लिए उसने जोड़-तोड़ शुरू की—इस कला में वह बड़ा कुशल था। दो-तीन साल बाद इसका परिणाम निकला और वह डेरी का डीन बना दिया गया।

इसी समय एक मनोरंजक घटना घटी। स्विफ़्ट की एक परिचित महिला, जिसे बर्कले जानता तक नहीं था, अपनी वसीयत में उसके लिए ३००० पौंड छोड़कर मर गई। यह धन वास्तव में स्विफ़्ट के लिए ही था, परन्तु उससे झगड़ा हो जाने के कारण हेस्टर वॉन होमरिग नामक उस महिला ने वसीयत बदलवा दी। परन्तु इसके कारण स्विफ़्ट से उसकी मित्रता खत्म नहीं हुई, यद्यपि इस धन की वजह से उसे सालों बहुत ख़त-किताबत करनी पड़ी।

इस समय तक बर्कले यूरोप में अपने विचारों का प्रचार करने के बारे में निराश हो चुका था। परन्तु स्थिर रहना और शांत होकर बैठ जाना उसके स्वभाव में नहीं था। इसलिए उसने अतलांतिक के पार अमेरिका में अपने विचार फैलाने का निश्चय किया। साथ ही वह नयी जातियों में ईसाइयत का प्रचार भी करना चाहता था। उसने इसके सम्बन्ध में एक फड़कती हुई कविता लिखी। उसने बरमूडा नामक द्वीप में, जो अमेरिका के दोनों छोरों से बराबर दूरी पर पड़ता है और जहाँ का जलवायु भी बुरा नहीं है, मिशनरी बनाने का एक कालेज खोलने की योजना बनाई। उसने सोचा कि यहाँ अमेरिकी तथा रेड इण्डियन विद्यार्थी आकर शिक्षा लेंगे, फिर इंगलैण्ड आकर धर्म में दीक्षित होंगे और तब अपने-अपने देश वापस जाकर ईसाईयत और सभ्यता का प्रचार करेंगे।

परन्तु उसने यह नहीं सोचा कि ६०० मील चलकर विद्यार्थी बरमूडा पहुँचेंगे कैसे? उस जमाने में समुद्र-यात्राएँ इतनी आसान नहीं थीं। और रेड इण्डिन तो यों ही बाहर आते-जाते बहुत डरते थे। खैर, बर्कले ने बड़े रोमांटिक ढंग से अपनी योजना का प्रचार किया और लंदन में जब एक दफा किसी डिनर पर उसकी योजना की हँसी उड़ाई जा रही थी,

तब उसने इतनी कुशलता से उत्तर देकर लोगों के दिमाग बदल दिए कि वे सब मेजों से उठकर चिल्लाने लगे—हम बरमूडा चलने को तैयार हैं।

और सच ही यह प्रतीत होने लगा कि योजना सफल हो जाएगी। उसे सम्राट् का चार्टर मिल गया, पादरी और बैंकर बरमूडा के 'सेंट पॉल कालेज' के लिए चन्दे उगाहने लगे, और चूँकि चंदों से काम चलना सम्भव नहीं था, इसलिए पार्लियामेंट ने भी २० हजार पौंड की ग्रांट देने का वादा कर दिया। ग्रॉट देने की बात जार्ज प्रथम ने खुद प्रधान-मन्त्री वालपोल से कही, इसलिए वालपोल इनकार तो नहीं कर सका, परन्तु उसे आसार अच्छे नज़र नहीं आ रहे थे, इसलिए उसने पैसा दिए जाने की वास्तविक तिथि निश्चित नहीं होने दी।

दो साल तक मामला यहीं ठहरा रहा। तब बर्कले ने चंदे से एकत्र धन का ही उपयोग करने का विचार किया। परन्तु बरमूडा न जाकर वह रोड द्वीप चला गया—शायद उसे भी बरमूडा की योजना में शक होने लगा हो। उसने सोचा हो कि महाद्वीप पर ही काम ज्यादा ठीक चल सकता है। न्यूपोर्ट में उसने जमीन खरीदी, मकान बनवाया और ग्रांट के पैसे की प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु कुछ हुआ नहीं। वालपोल ने पैसा देने से इनकार कर दिया। सम्राट् का समर्थन भी शायद हिलने लगा। और सब भी बर्कले की आलोचना करने लगे। तीन साल बाद निराश होकर बर्कले इंगलैण्ड लौट आया।

अमेरिका में सैमुअल जान्सन बर्कले का प्रशंसक बन गया था। उसका कहना था कि यह दर्शन सारे संसार में फैल जाएगा। न्यूयार्क में अब जो कोलबिया यूनिवर्सिटी है, उसका पहला अध्यक्ष जान्सन ही था। बर्कले ने अपनी सब किताबें येल कालेज को दे दी थीं। केलिफोर्निया में उसके नाम पर एक नगर भी है।

इंगलैण्ड लौटकर उसने डेरी की अपनी डीनशिप पर वापस जाना उचित नहीं समझा, और चुपचाप लंदन में रहने लगा। इसके बाद वह द. आयरलैण्ड के क्लोयन नामक छोटे से स्थान में पादरी बनकर चला गया। अच्छी नौकरियों के प्रस्ताव उसके पास आए, परन्तु उसने उन्हें स्वीकार नहीं किया। उसने किसानों की सेवा और लिखने-पढ़ने का काम शुरू किया। अमेरिका में उसने सुना था कि रेड इण्डियन चेचक के इलाज के लिए तारकोल का पानी इस्तेमाल करते हैं। जब उसके गाँव में चेचक फैली, तब उसने भी यही किया। उसने यह भी कहना शुरू

किया कि तार का पानी बड़ा अच्छा टॉनिक है। फिर उसने एक किताब लिखकर संसार को चकित कर दिया जिसका नाम ही २५ शब्दों का है और जिसका अर्थ होता है : तार के पानी के गुणों से सम्बन्धित तथा उससे ही निकलने वाले अनेकानेक विषयों पर दार्शनिक विचारों को शृंखला। इस अजीबो-गरीब किताब को कुछ लोगों ने बड़ा महत्त्वपूर्ण माना, और कुछ ने कहा कि यह कोरी बकवास है। जो हो, तार जल का प्रयोग कुछ समय तक बड़ी तेजी से फैला, और कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने मृत्यु से बचने के लिए इसका उपयोग किया। पर शीघ्र ही चिकित्सा-शास्त्र ने इसे वर्जित कर दिया।

अब बर्कले की अवस्था ६७ वर्ष की थी और तार जल के बावजूद उसका स्वास्थ्य खराब रहने लगा था। उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन आक्सफोर्ड में बिताने का विचार किया। उसने चर्च से इस्तीफा देना चाहा, परन्तु सम्राट ने उसे बिना इस्तीफा दिए ही आक्सफोर्ड आने की आज्ञा दे दी। वह आक्सफोर्ड आ गया और अपनी पत्नी तथा पुत्री के साथ एक घर लेकर रहने लगा। कुछ महीने बाद एक दिन वह चाय पीते हुए अपनी पत्नी से एक किताब पढ़वाकर सुन रहा था। इसी बीच उसका दिल धड़कना बन्द हो गया, और उसकी पुत्री ने जब चाय का दूसरा प्याला तैयार करके उसे दिया, तब यह पता चला कि अब उसकी सत्ता ससार मे नहीं रही है।

● ● ●

बर्कले मर गया परन्तु अपने पीछे विचारों का एक बवंडर छोड़ गया। उसकी किताबो का अध्ययन करने वाले विद्वानों मे दो दल हो गए, अब भी स्थिति यही है। दोनो ही उसे आधुनिक युग का एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक मानते हैं—भले ही एक दल उसके सब विचारों को ठीक मानता हो, दूसरा सभी को गलत मानता हो। सच यह है कि जिन विषयों को बर्कले ने लिया, उन पर अन्तिम रूप से कुछ भी कहना सरल नहीं है। ज्ञान-मीमांसा तलवार की धार है, देर या सबेर जो हर खिलाड़ी के पैर काट देती है। इस पर चलने का विचार करना ही बड़े साहस का काम है और थोड़ी देर चलने वाले को भी उचित श्रेय मिलना चाहिए। यह इसी से प्रकट है कि बर्कले के बाद बेहद जोरशोर से इस विषय पर काम होना शुरू हो गया और सैकड़ों मस्तिष्क इसकी शोध में लग गए, जिसके परिणामस्वरूप अनेक स्कूल भी खड़े हो गए, परन्तु उनके काम का स्तर बहुत नीचे गिर गया और मौलिकता तो उनमें से एकदम खत्म हो गई।

बर्कले को परिमार्जित लॉक परन्तु अपूर्ण ह्यूम कहा जाता है। इसलिए विषय को पूरा करने के लिए यहाँ जरा ह्यूम के कार्य और योगदान पर भी एक दृष्टिपात कर लें।

ह्यूम बड़े ख्यातिप्रिय व्यक्ति थे और पहले से योजना बनाकर उन्होंने अपने जीवन का सब कार्य किया। उन्होंने अनुभववाद को उसकी चरम सीमा पर पहुँचा दिया। इससे आगे रास्ता ही नहीं रहा था। लॉक ने ईश्वर, जीव और जगत् तीनों को माना था। बर्कले ने जगत् की सत्ता का खण्डन किया और ईश्वर तथा जीव को रहने दिया। ह्यूम ने ईश्वर और जीव दोनों का ही खण्डन कर डाला। उन्होंने बड़े साहस से कहा कि अनुभववाद के आधार पर किसी भी तत्त्व को सिद्ध करना सम्भव नहीं है।

उन्होंने यह किस प्रकार किया ? उन्होंने कहा कि मनुष्य का ज्ञान संस्कारों तथा विचारों तक ही सीमित है। लॉक ने इन संस्कारों को बाह्य जड़ प्रकृति से उत्पन्न तथा बर्कले ने ईश्वर की शक्ति से उत्पन्न माना था। ह्यूम ने दोनों की जड़ काटते हुए कहा कि यदि हमारा ज्ञान संवेदनों से ही होता है और उन्हीं तक सीमित है, तो उनके कारणों का ज्ञान हमारे लिए सम्भव ही नहीं है। उन्होंने कहा कि कारण अवश्य हो सकते हैं, परन्तु हमारी बुद्धि उनकी मीमांसा करने में असमर्थ है।

ईश्वर और आत्मा की सत्ता कार्य-कारण सम्बन्ध मानने से भी सिद्ध की जाती है। ह्यूम ने इसका भी खण्डन किया और कहा कि दोनों में सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है। उन्होंने कहा कि अनुभववाद से कार्यकारण सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। हम दोनों बातों को जानते तो हैं, परन्तु अनुभव से दोनों के सम्बन्ध को कभी नहीं जान पाते। दोनों को हम अलग-अलग घटनाओं के रूप में ही जानते है। वास्तव में इन दोनों के सम्बन्ध की हम कल्पना कर लेते है। कई बार नियमित रूप से दो घटनाओं को एक साथ देखकर भी हम यह सम्बन्ध मान लेते हैं। जैसे, पानी पीने से प्यास बुझने का सम्वेदन जानकर हम एक को दूसरे का कारण मान लेते है, यद्यपि इसके सम्बन्ध का तीसरा सम्वेदन हमें नहीं होता। जहाँ धुआँ हो, वहीं आग भी देख लेने पर मनुष्य कल्पना कर लेता है कि जहाँ धुआँ हो, वहाँ आग होनी ही चाहिए। आग से हाथ जल जाने पर हम यह अनुभव करते हैं कि आग से हाथ जल सकता है, पर हम उस जलाने वाली शक्ति को नहीं अनुभव करते, केवल आग का और

हाथ जलन का दो बातों का ही अनुभव करते हैं। अतः इससे किसी सार्वभौम नियम को नहीं बनाया जा सकता, सम्भावना तक ही इसे ले जाया जा सकता है। इसलिए ऐसे ज्ञान से किसी 'सत्य' का परिचय नहीं पाया जा सकता।

अतः, ह्यूम के अनुसार न हम आत्मा को जान सकते हैं, न ईश्वर को। "जब मैं अपने अन्दर 'मैं' को देखने की कोशिश करता हूँ, तब मैं किसी सम्वेदन—गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, सुख या दुःख—पर ही अटक जाता हूँ, इसके आगे नहीं बढ़ पाता और न 'मैं' को ही पकड़ पाता हूँ।" इसी तरह ईश्वर की समस्या का समाधान करने योग्य हमारी बुद्धि नहीं है। इन विषयों के बारे में सोचना अपनी सामर्थ्य से बाहर चले जाना है, जिससे गलतियाँ होती हैं, और कोई दो मत एक समान नहीं हो पाते।

ह्यूम कहता है कि विश्व की प्रकृति से ईश्वर की प्रकृति का अनुमान नहीं लगाना चाहिए। यदि हम ऐसा करेंगे, तो ईश्वर को पूर्ण नहीं मान सकते, क्योंकि विश्व पूर्ण नहीं है। यदि विश्व पूर्ण भी होता, तो भी उसकी सब बातों के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराना अनिश्चित हो रहता। सम्भव है कि इस संसार के बनने के पहले जाने कितने और संसार बने और बिगड़े हों। इससे भी ईश्वर की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। ऐसी परिस्थिति में, सम्भव है, संसार को छोटे-मोटे देवी-देवताओं ने ही बनाया हो। कुछ कहा नहीं जा सकता।

ह्यूम कहता है कि ईश्वर यदि हो भी, तो उसके नैतिक होने का निश्चय नहीं किया जा सकता। प्रकृति का उद्देश्य जीवन को बढ़ाना ही प्रतीत होता है, उसे सुख देना नहीं प्रतीत होता। संसार में सुख से दुःख ज्यादा है। इसलिए या तो ईश्वर दयालु नहीं है या सर्वशक्तिमान नहीं है।

धर्म के विषय में ह्यूम का कहना है कि ईश्वर में विश्वास का कारण सत्य, ज्ञान आदि का प्रेम नहीं है, असुरक्षा की भावना, भय और सुख की कामना है। ईश्वर में विश्वास चिन्तन का परिणाम न होकर मनुष्य की भावुक प्रकृति का परिणाम है।

इस तरह ह्यूम ने अनुभववाद को उसके अन्तिम छोर तक पहुँचा दिया। उनके चिन्तन को इसीलिए सन्देहवादी और अज्ञेयवादी कहा गया। इससे प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन होने में बड़ी सहायता मिली। कांट को भी उसके सन्देहवाद ने 'मोहनिद्रा से जगाया।' ●

कांट
१७२४-१८०४

●

कांट की प्रमुख रचना 'क्रिटीक' को शापेनहावर ने जर्मन साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा है और शायद यह सच भी है। शापेनहावर यह भी मानता है कि जिस आदमी ने कांट को नहीं समझा, वह अभी बच्चा है। हर आदमी के बारे में यह शायद इतना सच न हो, परन्तु हर दार्शनिक और दर्शन-शास्त्र के अध्यापक के बारे में यह अवश्य सच है, क्योंकि यह जानी हुई बात है कि संसार के विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में अनेक अध्यापक कांट को बिना ठीक से समझे ही विद्यार्थियों को उसका दर्शन पढ़ाया करते हैं।

कांट की अपनी लिखी किताबों से उसे समझना असम्भव के समान ही है। इसलिए उसके सच्चे प्रेमी पहले कई टीकाएँ पढ़ते हैं, फिर कांट की पुस्तकों को धीरे से खोलते हैं। इसका एक कारण यह है कि कांट ने अपनी रचनाओं में उदाहरण कभी नहीं दिए, क्योंकि उसने सोचा कि इससे पुस्तकें बड़ी हो जायेंगीं—इसलिए उसने सिर्फ ८०० पृष्ठों की पहली पुस्तक लिखी। फिर उसने यह भी सोचा कि मेरी किताबें कोई बच्चे तो पढ़ेंगे नहीं, पेशेवर दार्शनिक ही पढ़ेंगे—जो ठीक भी साबित हुआ—इसलिए उदाहरणों की क्या जरूरत है? परन्तु उसने जब अपनी पुस्तक की पांडुलिपि अपने एक मित्र और उत्तम पेशेवर दार्शनिक को उसकी राय जानने के लिए भेजी, तो उसने बडी कठिनाई से उसे आधा खत्म किया, और यह कहकर लौटा दिया कि इसे यदि मैंने पूरा पढ़ लिया, तो मैं पागल हो जाऊँगा।

इसलिए बड़ी सावधानी से कांट के घर में घुसने की आवश्यकता है। अपनी किताब में उसने कहा है कि कापर्निकस ने खगोल विद्या में जैसी

क्रान्ति की, वैसी ही क्रान्ति मैं दर्शन के क्षेत्र में कर रहा हूँ। यह घमण्ड नहीं, तथ्य था। कापर्निकस से पहले के खगोलवेत्ताओं ने स्थिर नक्षत्रों की प्रतीत होने वाली गति को सच मानकर इस तरह समझाया कि वे स्थिर मनुष्य-दर्शक के चारों ओर घूमते हैं, कापर्निकस ने इसे गलत बताकर इस तरह समझाया कि घूमती हुई पृथ्वी पर मनुष्य-दर्शक की दृष्टि बदलती रहती है, इसलिए स्थिर नक्षत्र ही घूमते से प्रतीत होते हैं। कांट से पहले के दार्शनिक यह मानकर अपना सब चिन्तन करते थे कि मनुष्य के संवेदन और अनुभव बाहरी संसार के अनुरूप होते हैं, कांट ने इसके विरुद्ध यह कहा कि ज्ञान में परिवर्तित होने के लिए प्रत्येक वस्तु को हमारे मन के अनुरूप ढलना होता है। उसने कहा कि गणित तथा भौतिकी के नियम भी अपनी उत्पत्ति तथा सत्यता में मानव मन के अनुरूप ही होते हैं। जिस संसार में हम रहते हैं, उसे बहुत कुछ हमारा मन ही बनाता है। उसके सब नियम भी मानव मन के ही बनाये हुए हैं।

ह्यूम, वाल्टेयर आदि के सन्देहवाद तथा भौतिकवाद के कारण वैचारिक जगत् में जो अव्यवस्था तथा रोष फैल रहा था, उस पर कांट के चिन्तन ने मलहम का काम किया। यह सुनकर लोगों को अच्छा लगा कि हमारे अनुभव में आने वाला बाहरी संसार हम से अलग नहीं है, क्योंकि उस संसार को हम ने ही बनाया है। किसी न किसी रूप में हमारा व्यक्तित्व बाहरी प्रकृति से श्रेष्ठ है। यद्यपि कांट ने इससे इनकार किया कि विश्व के बारे में हम निश्चित रूप से कुछ जान सकते हैं, उसने यह आशा फिर जगा दी कि हम ईश्वर को सम्भवतः जान सकेंगे, हमारी आत्माएँ अमर हो सकती हैं, हमारी इच्छा-शक्तियाँ स्वतन्त्र है। उसने कहा कि ईश्वर, आत्मा तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी मानव मन के निश्चित दावे सम्भावनाएँ ही हैं, जो तर्क की सहायता से बनती हैं और नैतिक कर्त्तव्य की भावना तथा सौंदर्यानुभूति के द्वारा पुष्ट होती हैं। इन सब बातों को बड़ी सूक्ष्मता तथा विस्तार से कांट ने प्रस्तुत किया है।

सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शन पर कांट का प्रभाव छाया रहा। फिक्टे, शेलिंग, हीगेल तथा शापेनहावर ने उसका आधार लेकर सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ ही खड़ी कर दीं, और नीत्शे, बर्गसाँ और जेम्स ने उसके चिन्तन के कुछ पहलुओं को आगे बढ़ाकर बहुत विकसित किया। बाद में नए दार्शनिक विचार आने पर जो आलोचना-प्रत्यालोचना हुई, उससे भी कांट के चिन्तन का अधिकांश सुरक्षित निकल आया, थोड़े से और कम महत्त्वपूर्ण पहलू ही अस्वीकृत हुए।

● ● ●

यह क्रान्ति करने वाला व्यक्ति बहुत छोटे कद का, दुबला-पतला, मृदुभाषी व्यक्ति था, जिसका सम्पूर्ण जीवन एक ही नगर में, बिना किसी महत्त्वपूर्ण घटना के, बीता। जिन्दगी भर उसने शादी नहीं की क्योंकि किसी एक लड़की से शादी करने का विचार करते रहने में ही उसने लड़की के धीरज को खत्म कर दिया और वह विचार न करने वालों को उत्तम पति समझकर ऐसे ही किसी व्यक्ति के साथ चली गई। दूसरी एक लड़की भी इसी कारण शहर छोड़ दुम दबाकर भाग गई।

प्रशा के कोनिग्सबर्ग नामक नगर में कांट का जन्म हुआ था। उसके पिता गरीब मोची थे जो बड़ी शान्ति से अपना जीवन बसर करते थे। वास्तव में उसके नाम, कांट, का पहला अक्षर C था, परन्तु हमारे दार्शनिक ने सोच-विचार कर उसे K कर लिया जिससे C को 'क' कहने के बजाय लोग 'श' न कहें, और 'कांट' को 'शांट' न कर दें।

कांट की माता एक विशेष धार्मिक सम्प्रदाय, पीटिस्ट, को मानती थी जिसमें नम्रता और मानवता को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसके आचार बहुत कड़े थे और कांट के जीवन पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके कारण एक ओर जहाँ वह कट्टरताओं तथा बाह्य प्रदर्शन का तीव्र विरोधी हो गया, वहाँ दूसरी ओर जीवन के अन्त तक गहरा नीतिवादी भी बना रहा, जिसका असर उसके चिन्तन पर भी पड़ा।

सोलह साल की अवस्था में धर्म का अध्ययन करने के लिए वह स्थानीय विश्वविद्यालय में भरती हो गया। साधनों की कमी के कारण वह अन्य विषय नहीं पढ़ सकता था। साधनों में वृद्धि करने के लिए उसने धनी परिवारों के बच्चों को पढ़ाना शुरू कर दिया। कहते है, वह शिक्षक अच्छा था और अपनी स्वतन्त्रता तथा मानवी प्रतिष्ठा को भावनाओं से विद्यार्थियों को प्रभावित भी करता था। उसके अनेक विद्यार्थी आगे चलकर जर्मनी से सामन्तवाद के उन्मूलन के आन्दोलन में नेता बने। बाद में एक दफा कांट ने खुद कहा कि देश में गरीबों पर अत्याचार होता देखकर उसके पेट की नस-नाड़ियाँ चक्कर खाने लगती थीं।

इन्हीं परिवारों में कांट ने दुनियादारी की जरूरी बातें तथा बाहरी रख-रखाव के ढंग सीखे, जो आगे चलकर बहुत काम आए—उसके सहयोगियों का कहना है कि चाहने पर कांट बहुत सभ्य व्यवहार करने

लगता था। इन्हीं वर्षों में उसने वह सब विशाल अध्ययन किया, जो आगे चलकर प्रकट हुआ। जिन सब दार्शनिकों का उसने खण्डन किया, उन सभी से वह बहुत प्रभावित भी हुआ और बुढ़ापे में उसने अपने चिन्तन का रुख काफी कुछ बदल भी दिया।

३१ वर्ष की अवस्था में वह लेखक तथा विश्वविद्यालय में प्राइवेट लेक्चरर के रूप में प्रकट हुआ। उसके लेक्चर भूगोल, मनोविज्ञान और दर्शन, सभी विषयों पर हुआ करते थे। प्राइवेट लेक्चरर की हैसियत बड़ी मामूली होती है, और १५ साल तक कांट इससे आगे नहीं बढ़ सका। परन्तु पिता के कार्य की तुलना में यह बहुत बड़ी उन्नति थी। उसने दो बार प्रोफेसर बनने का प्रार्थना-पत्र दिया, पर वह स्वीकृत नहीं हुआ। तीसरी बार अवसर आने पर उसे तर्कशास्त्र और तत्त्वज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। इस बीच उसने अध्यापन-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी जिसके बारे में वह खुद कहता था कि इसमें बताई अच्छी-अच्छी बातों का मैंने कभी पालन नहीं किया है। पर सच इसका उलटा है, लेखक की अपेक्षा वह शिक्षक ही अच्छा था। वह मध्यम योग्यता के विद्यार्थियों पर ज्यादा ध्यान देता था क्योंकि उसके अनुसार मूर्ख विद्यार्थियों का तो कोई इलाज ही नहीं है, और विलक्षण विद्यार्थी अपने शिक्षक खुद होते हैं।

इस समय किसे पता था कि शीघ्र ही वह तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूव हलचल पैदा कर देगा—ऐसे मामूली से शान्तचित्त अध्यापक से यह आशा हो ही नहीं सकती थी। उसे खुद भी यह पता नहीं था क्योंकि उसने लिखा है कि "तत्त्वज्ञान की देवी ने मुझे कोई वरदान नहीं दिया। तत्त्वज्ञान एक अथाह और अँधेरा समुद्र है, जिसका न कोई किनारा है और न जिसमें कोई लाइटहाउस ही है। यह दर्शन के अनेक टूटे हुए जहाजों से भरा हुआ है।" वह बहुत ऊँचा चिन्तन करने वाले दार्शनिकों पर हमले भी करता रहता था और कहता था कि वहाँ तो इतनी तेज़ हवाएँ चलती हैं, जिनमें आदमी ठहर ही नहीं सकता। तब क्या पता था कि सबसे बड़ा तूफान वह खुद ही चलाएगा!

कांट का विकास बहुत धीरे-धीरे ही हुआ। उसकी 'क्रिटीक' ५७ वर्ष की अवस्था में प्रकाशित हुई। इसका एक कारण यह हो सकता है कि उसे बहुत से विषय पढ़ाने पड़ते थे और पीरियड भी काफी लेने पड़ते थे। खुद उसकी अपनी रुचि भी बहुत से विषयों में थी और वह उन पर लिखा भी करता था। उसने खगोल तथा नृतत्त्व-शास्त्र पर

किताबें लिखीं और कई मनोरंजक बातों का प्रतिपादन किया। जैसे उसने इस बात की सम्भावना प्रकट की कि मनुष्य का उद्भव पशु से हुआ है। बुढ़ापे में भी वह अनेक विषयों पर लिखता रहा। जैसे 'बुद्धि और संकल्प की शक्ति के द्वारा रोग की भावना पर नियन्त्रण' पर उसका लेख। उसे अपने स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न करना पड़ता था। परन्तु उसने डाक्टर की सहायता कभी नहीं ली और ८० वर्ष तक जिया। वह रोज़ टहलने जाता था, चाहे मौसम अच्छा हो या खराब, और टहलते समय प्राकृतिक शक्तियों का पूरा उपयोग करने के लिए साँस नाक से ही लेता था—यानी किसी से बात भी नहीं करता था। जब मौसम खराब होता था, तब उसका नौकर छाता लिए उसके पीछे दौड़ता रहता था। जिस रास्ते पर कांट अपनी छड़ी लिए घूमता था, उसका नाम ही 'दार्शनिक की पगडण्डी' पड़ गया है। वह समय का बड़ा पाबन्द था। लोग उसके आने-जाने से अपनी घड़ियाँ मिलाया करते थे।

कांट दयालु और मिलनसार था। उसके मित्र और पड़ोसी उसे बहुत चाहते थे। उसके विद्यार्थी भी उसे प्यार करते थे और उसकी इज्जत करते थे। इसका एक कारण यह भी था कि वह अपने विद्यार्थियों को अपने विचार खुद ही स्थिर करने के लिए प्रेरित करता था। उस समय को देखते हुए यह बड़ी उदारता की बात थी। खुद अपना दर्शन विकसित कर लेने तथा प्रख्यात हो जाने के बाद वह इतना सहिष्णु नहीं रहा, जो शायद स्वाभाविक ही था। तब वह सबसे यह आशा करने लगा कि वे उसके दर्शन को स्वीकार कर लें, ऐसा न करने वालों को वह जिद्दी और मूर्ख समझता था। परन्तु उसकी बाह्य नम्रता में कभी कोई कमी नहीं आई। वह अपने मित्रों तथा विद्यार्थियों को खाने पर बुलाता और बाद में घण्टों उनसे मनोरंजक बातें करता था—जो उस जैसे दार्शनिक के लिए आश्चर्य की बात थी।

इसी बीच वह धीरे-धीरे अपना 'क्रिटीक आव प्योर रीज़न' नामक ग्रन्थ लिखता और दुहराता रहा। उसने इसे लिखने में १५-२० साल लगाए और जब यह प्रकाशित हुआ, तब से एक नए युग का सूत्रपात हुआ। दर्शन की लम्बी सड़क पर यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण मील के पत्थर की तरह या तत्त्वज्ञान के अथाह अँधेरे समुद्र में प्रकाश-स्तम्भ की तरह खड़ा है। ज्ञान की आन्तरिक प्रकृति को छान-बीन करके कांट ने इसमें उन आधारों को स्थापित किया है, जिन पर वह स्थिर है। साथ ही उन

सीमाओं का भी निर्देश कर दिया है, जिनको ज्ञान पार नहीं कर सकता। इसमें चिन्तन की महत्ता और सीमा दोनों ही एक साथ चित्रित हैं। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि हर दशाब्दी के बाद इसका नया संस्करण प्रकाशित होने लगा और अब भी हो रहा है।

सात साल बाद कांट ने अपना दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'क्रिटीक आव प्रैक्टिकल रीज़न' प्रकाशित किया। इसमें नीति, आचार तथा धर्म आदि पर कांट के विचार हैं। इसके भी दो साल बाद उसने 'क्रिटीक आव जजमेंट' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमे सौन्दर्यशास्त्र, कला, जीवशास्त्र आदि पर उसके विचार हैं, और इन सब के कारण धार्मिक जगत् की जो भावनाएँ मनुष्य में उत्पन्न होती हैं, उनकी छान-बीन है। ये तीनों 'क्रिटीक' उसके सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है यद्यपि इन्हीं विषयों पर प्रकाश डालने वाले दो-तीन और ग्रन्थ भी उसने लिखे हैं।

कांट के दर्शन का व्यवहार-पक्ष नैतिकता तथा कर्त्तव्य की भावना से ओत-प्रोत है। उसने नैतिक दायित्वों को अन्तिम और अपरिवर्तनीय माना है। इतनी ज्यादा कर्त्तव्यप्रियता के कई कारण हो सकते हैं। पहला यह कि उसका बचपन बड़ी गरीबी और अनुशासन में बीता। उसका बाप ही मोची नहीं था, उसकी बहन भी घरों मे नौकरानी का काम करती थी। दूसरा यह कि उसका स्वास्थ्य बहुत ढीला था और उसे काम लायक बनाये रखने के लिए कांट को बहुत आत्मानुशासन रखना पड़ता था। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस जमाने के सरकारी नौकरों को एक तरह से सैनिक अनुशासन में रखा जाता था।

अब उसकी कृतियां को जरा विस्तार से देखें। 'क्रिटीक आव प्योर रीज़न' में वह उस ज्ञान को शुद्ध मानता है, जो इन्द्रियों के माध्यम से, जो कभी-कभी अशुद्ध भी हो सकती है, हमें प्राप्त नहीं होता, अपितु जो इन्द्रियानुभव से स्वतन्त्र होता है। ऐसा ज्ञान हमारी अन्तर्प्रकृति तथा मन के अनुरूप होता है। अब यह हुआ अनुभववादी लॉक, बर्कले तथा ह्यूम का खण्डन, कि ज्ञान सम्वेदनों के अलावा हो ही नहीं सकता। कांट कहता है कि अनुभव से ही ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। अनुभव केवल यही बताता है कि इस समय क्या है, यह नहीं बताता कि सदा क्या होता है और क्या नहीं हो सकता। इसलिए अनुभव से सामान्य सत्य नहीं प्राप्त हो सकते। सामान्य सत्यों में एक प्रकार की आन्तरिक अनिवार्यता होती है और वे स्पष्ट तथा निश्चित होने चाहिए। तात्पर्य यह कि वे अनुभव

के पूर्व भी सत्य हों और बाद में भी सत्य ही रहें। जैसे गणित का ज्ञान, जो अनिवार्य और स्पष्ट होता है, कोई भी भावी अनुभव जिसे बदल नहीं सकता। किसी दिन सूरज का पश्चिम में निकलना सच हो सकता है, आग से किसी दिन लकड़ी न जले, यह भी हो सकता है, परन्तु दो और दो चार न होकर छः या दस हों, यह कभी नहीं हो सकता।

ज्ञान की ऐसी अनिवार्यता और अन्तिमता कैसे प्राप्त हो? अनुभव से? नहीं, क्योंकि अनुभव से अलग अलग संवेदन ही प्राप्त होते है, जिनका क्रम भविष्य में कभी बदल भी सकता है। तो, ये सत्य अपनी अनिवार्यता मन की आन्तरिक प्रवृत्ति से और उसके कार्य करने के ढग से प्राप्त होते है। मनुष्य का मन निष्क्रिय मोम नहीं है, जिस पर अनुभव और संवेदन अपनी मनचाही छाप अंकित कर द, न यह मानसिक स्थितियों का हवाई नाम है, यह एक क्रियाशील यन्त्र है जो सवेदनों को विचारों में बदलता तथा ढालता है और उनमें अनुशासन तथा एकता उत्पन्न करता है।

मन यह कैसे करता है? इस प्रक्रिया को कांट ने इन्द्रियातीत यानी इन्द्रियों के अनुभव से परे का दर्शन कहा है। उसने इसके दो भाग बताए हैं। पहले भाग मे मन सवेदनों को देश और काल के अनुरूप ढाल कर प्रत्यक्षों मे परिवर्तित करता है, दूसरे में वह प्रत्यक्षों को विकल्पों या धारणाओं के अनुसार ढालकर विचारों में संगठित करता है।

जैसे आँख ने कोई रंग देखा, नाक ने कोई गन्ध सूंघी, हाथ ने किसी स्पर्श का अनुभव किया। अलग-अलग ये सब सवेदन हैं, परन्तु मन में एकत्र होकर 'फूल' का ज्ञान कराते है। सवेदनों का यह संयोजन क्या अपने आप हो गया? अनुभववादी कहेगे 'हाँ', कांट कहता है 'नहीं'। ये संवेदन विभिन्न नस-नाड़ियों से चलकर मन में पहुँचते है। वहाँ इनका चुनाव होता है और चुनाव का नियम होता है मन का उद्देश्य। सोती हुई माँ किसी हलचल से नहीं जगती, बच्चे के हिलते ही जग जाती है। घड़ी टिक-टिक चलती रहती है परन्तु यदि हमे सवा नौ बजे कुछ काम है, तो वही 'टिक' हमें सुनाई देगी। दो और पाँच को यदि जोड़ना उद्देश्य है, तो उत्तर आयेगा सात, यदि गुणा करना उद्देश्य है, तो उत्तर आयेगा दस।

अब ये प्रत्यक्ष विचारों अर्थात् सम्बन्धों, परिणामों और नियमों में परिवर्तित किये जाते हैं। इससे उन्हें निश्चय तथा सार्वभौमता प्राप्त होती

है। यह कार्य जिन साधनों से सम्पन्न होता है, उन्हें कांट ने धारणाएँ कहा है। ये जैसे साँचे हैं जिनमें ज्ञान ढाला जाता है। ये बारह प्रकार के बताए गए हैं जो चार भागों मे विभाजित हैं। यह मन के कार्य करने का ढंग है। संगठित सवेदनों से प्रत्यक्ष, संगठित प्रत्यक्षों से विचार तथा संगठित विचारों से ज्ञान और विज्ञान उत्पन्न होता है। यह क्रम तथा एकता अपने आप नही आती, हम खुद उनमें एकता उत्पन्न करते है।

इससे आगे कांट यह दिखाता है कि तर्क तथा विज्ञान की यह पूर्णता तथा सत्यता भी सोमित और सापेक्ष है। यह वास्तविक अनुभव तक ही सोमित और अनुभव के मानवी प्रकार की सापेक्ष होती है। जो वस्तु हम देखते हैं, वह पहले किसी और तरह की रही हो सकती है और यह भी सम्भव है कि पशु को वह ऐसी न लगती हो जैसी मनुष्यों को लगती है, क्योंकि दोनो को इन्द्रियो में भेद हो सकता है। कांट बाह्य जगत् और पदाथ की सत्ता मे अविश्वास नहीं करता, वह यह अवश्य कहता है कि उसकी सत्ता के अतिरिक्त उसके विषय मे हम और कुछ नही जान सकते। तात्पर्य यह कि विज्ञान अथवा धम का परम सत्ता, अमरता आदि के विषय कुछ कहना सम्भावना ही हो सकता है, निश्चय नहीं हो सकता। तर्क से भो न ईश्वर सिद्ध होता है, न आत्मा और न स्वतन्त्रता। यह एक महत्वपूर्ण बात है।

लेकिन कांट जैसे भले और सज्जन व्यक्ति ने यह क्या सिद्ध कर दिया ? जर्मनी के सब पादरी नाराज़ हो उठे और बदला लेने के लिए उन्होंने अपने कुत्तों के नाम इमानुएल काट रख दिए। किसी ने उसकी तुलना फ्रांस के रॉबिस्पियेर से का जिसने एक राजा और हजारों फ्रेंच स्त्री-पुरुषों को मार डाला था—कांट ने तो ईश्वर को ही मार डाला। लेकिन कुछ हुआ नहीं क्योंकि राजा काफी उदार था और उसका शिक्षा मन्त्री कांट का भक्त था—कांट ने अपनी यह किताब भी उसको समर्पित की थी।

फिर जब उसकी दूसरी किताब 'क्रिटीक आव प्रैक्टिकल रीज़न' प्रकाशित हुई, तब दूसरा ही नक्शा दिखाई दिया। इसमें धर्म की स्थापना की गई थी, परन्तु ज्ञान और विज्ञान के आधार पर नही, नैतिकता के आधार पर। लेकिन नैतिकता का आधार ठोस होना चाहिए, वह अपूर्ण तर्क या संवेदनों पर आधारित न होकर अन्तर्ज्ञान पर आधारित हो तथा गणित की तरह निश्चित हो। क्या शुद्ध ज्ञान व्यावहारिक हो सकता है अर्थात् क्या वह इच्छाशक्ति को अपने आप संचालित कर सकता है ?

हाँ, कांट ने उत्तर दिया। उसने कहा कि हमारे अनुभव की सबसे महत्त्व-पूर्ण बात हमारी आन्तरिक नैतिकता ही है, कि क्या सही है और क्या गलत। भले ही हम कोई गलत काम करते हों पर जानते जरूर हैं कि वह गलत है और उसे न करने का संकल्प भी करते रहते हैं। इस संकल्प को उत्पन्न करने वाली प्रेरणा कहाँ से आती है ? वह हमारी अन्तरात्मा में निहित है।

कोई कार्य भी अच्छा या बुरा इसीलिए होता है क्योंकि वह इस भावना की आज्ञानुसार या अवज्ञा में किया जाता है, इसलिए नहीं कि उसका परिणाम अच्छा या बुरा होता है। सुखप्राप्ति का दर्शन नैतिकता नहीं है।

कांट ने कहा कि कर्त्तव्य करते रहने की यह भावना मानवी इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता को भी सिद्ध करती है। यदि हम स्वतन्त्र न होते तो कर्त्तव्य तथा नैतिकता की धारणा ही कैसे उत्पन्न होती ? तर्क से यह स्वतन्त्रता सिद्ध नहीं होती, यह तो नैतिक सङ्कट के समय सीधी आन्तरिक अनुभूति से हो सिद्ध होती है।

इसके साथ ही हम यह भी अनुभव करते हैं कि हम अमर हैं, भले ही इसे हम सिद्ध न कर सकें। हम इस ससार में रोज देखते हैं कि सज्जन की अपेक्षा चोर ज्यादा सुखी रहता है, पर फिर भी क्या हम सत्कर्म छोड़ देने की प्रेरणा भीतर से पाते है ? नहीं। ऐसा क्यों ? इसलिए, क्योंकि हम अपने भीतर यह जानते है कि यही जीवन सब कुछ नहीं है, इसके आगे भी जीवन है जिनमें यहाँ की बुराइयों का संतुलन हो जाएगा।

इसी तरह ईश्वर भी हो सकता है। यदि अमरता की सम्भावना सही हो, तो इस परिणाम को उत्पन्न करने वाले उपयुक्त कारण, अर्थात् ईश्वर की सम्भावना भी सही हो सकती है। पर यह तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता, तर्क से परे और ऊपर स्थित नैतिकता की भावना से ही अनुभव होता है !

इस ग्रन्थ के वक्तव्यों को कायरतापूर्ण माना जा सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है। तर्काधारित धर्मशास्त्र को नष्ट करके नैतिकता-आधारित धर्मशास्त्र की स्थापना करने से पादरी लोग और भी नाराज़ हो उठे। अपनी तीसरो किताब 'क्रिटीक आव जजमेंट' में कांट ने सौन्दर्यशास्त्र आदि के आधार पर विश्व की व्याख्या की और कहा कि यहाँ अनेक सुगठित

तथा सुन्दर वस्तुएँ दिखाई देती हैं, जिनसे यह लगता है कि ऐसी बढ़िया डिज़ायन की चीजें बनाने वाला भी जरूर कोई बुद्धिमान व्यक्ति होना चाहिए। परन्तु साथ ही प्रकृति में अनेक वस्तुएँ व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण भी दिखाई देती हैं। प्रकृति के अनेक कार्य भी अजीब हैं—वह अपार दुःख और मृत्यु के मूल्य पर जीवन को चलाती है। इसलिए सृष्टि के रूप को देखकर भी ईश्वर को मानना उचित प्रतीत नहीं होता। कांट ने कहा कि पादरियों को इस आधार पर ईश्वर की सत्ता मानना बन्द कर देना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि पिछले ग्रन्थ में कांट ने कायरता नहीं दिखाई थी, अपने सही विचार ही रखे थे।

इसके तुरन्त बाद कांट ने धर्म पर ही एक और किताब प्रकाशित की, जिसमें उसने और भी आगे बढ़कर कहा कि चूंकि धर्म का आधार तर्क न होकर नैतिकता पर आधारित व्यावहारिक ज्ञान है, इसलिए बाइबिल या उस जैसी कोई भी पुस्तक खुद नैतिकता का निर्णय नहीं कर सकती; उस पुस्तक को ही शाश्वत नैतिकता की कसौटी पर परखा जाकर नैतिकता के लिए उसका मूल्य स्थिर किया जाना चाहिए। चर्च इत्यादि भी जिस सीमा तक इस नैतिकता को बढ़ाते हैं, उसी सीमा तक उनकी उपयोगिता है। सच्चा चर्च उन्हीं लोगों का समूह है, जो चाहे जितना छोटा या बिखरा हुआ हो, पर जो इस नैतिकता को मानता हो। ईसा ने ऐसा ही चर्च बनाना चाहा था परन्तु लोगों ने उसे कुछ और ही बना लिया। यह चर्च जनता को एक नहीं करता, उन्हें सैकड़ों सम्प्रदायों में बाँटता है, उन्हें स्वर्ग के टिकट बेचकर धोखाधड़ी करता है। चमत्कारों से धर्म सिद्ध नहीं होता और वे प्रार्थनाएँ बेकार हैं जिनसे नैसर्गिक नियम टूटते हों।

इस किताब ने तो हद कर दी। इसमें कांट के मुख से वाल्टेयर बोल रहा था। इस समय तक फ्रेडरिक द्वितीय गद्दी पर बैठ चुका था और उसका मन्त्री था एक कट्टर पादरी। यह बलपूर्वक धर्म का प्रचार करने पर तुला था। इसने सब धर्म विरोधी अध्यापकों को बरखास्त करने की आज्ञा जारी कर दी। कांट की प्रतिष्ठा तथा बुढ़ापे के कारण उसके विरुद्ध कुछ करना सम्भव नहीं हुआ, इसलिए उसके प्रकाशक पर दबाव डाला गया कि वह यह किताब न छापे। परन्तु कांट ने चुप रहना उचित नहीं समझा, उसने जेना विश्वविद्यालय से पुस्तक प्रकाशित करा ली। जेना प्रशा से बाहर था और वहाँ का शासक भी उदार था। इस पर प्रशा सरकार का हुक्मनामा कांट के पास पहुँचा कि वह भविष्य में ऐसे कार्य न

करे अन्यथा उसे उसके परिणाम भुगतने होंगे। कांट ने उत्तर में लिखा कि प्रत्येक विद्वान् को अपना मत प्रकट करने का अधिकार है, परन्तु वह इस राजा के रहते चुप रहेगा।

शायद यह दुर्बल और बूढ़े कांट का शाप था जो शीघ्र ही फल भी गया। राजा की दो-चार साल बाद मौत हो गई और उसका उत्तराधिकारी उदार सिद्ध हुआ। तब कांट ने फिर लिखना शुरू कर दिया और अपनी अगली किताब की भूमिका में राज्य से हुए अपने झगड़े का पूरा कच्चा चिट्ठा भी बयान किया।

पर अब कांट का अंत भी आ गया था। उसकी शक्तियाँ धीरे-धीरे जवाब देने लगीं। उसकी स्मृति भी नष्ट हो गई और उसे अजीब अजीब सपने सताने लगे। कुछ क्षणों के लिए जब वह स्वस्थ होता, तो मेज पर लिखने बैठ जाता। लम्बी बीमारी के बाद एक दिन, ७९ वर्ष की अवस्था में, वह शान्त हो गया। उसकी मृत्यु से एक सन्त, जो बाहर से दुर्बल परन्तु भीतर से अत्यन्त साहसी था और इसी साहस के बल पर जिसने समस्त संसार में हलचल मचा दी, इस दुनिया से उठ गया। ●

शापेनहावर

१७८८–१८६०

किसी किताब में शापेनहावर का चित्र देखने पर लगता है मानो रात के गहरे अँधेरे में भूत देख लिया हो। बिखरे हुए बाल, दबे हुए ओठ, छेदती हुई आँखें और नोकदार नाक वाले इस व्यक्ति को देखकर इसके दार्शनिक होने का अनुभव तो होता ही नहीं, सामान्य व्यक्ति होने का अनुभव भी नहीं होता। शायद इसीलिए जर्मनी के विश्वविद्यालयों ने उसे अपने यहाँ भाषण देने बहुत कम बुलाया और जर्मन जनता ने भी बहुत दिन तक उसे दार्शनिक मानने से इनकार किया। बाद में जब उसे लोगों ने स्वीकार कर लिया, तब भी उसका दर्शन पढ़ने के बाद हमेशा यही अनुभव किया कि उन्होंने देर तक भूत से बातें की हैं।

शापेनहावर का दर्शन इतना निराशावादी है कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उससे डर लगने लगता है। उसका यह कथन कि इच्छा-शक्ति की क्रिया को प्रयत्नपूर्वक रोक देकर मनुष्य जीवन को इस तरह सुला देना चाहिए कि सारे संसार में निर्वाण की शान्ति छा जाए, साधारण घर-गृहस्थी वाले लोगों को भयभीत करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है!

संक्षेप में शापेनहावर का दर्शन यह है कि यह संसार मनुष्य की इच्छा-शक्ति के आधार पर चल रहा है, उसी से जीवन उत्पन्न होता है, बढ़ता है तथा जीवित रहता है। परन्तु यह इच्छा-शक्ति सुख नहीं प्रदान करती, दुःख ही देती है और बहुत-बहुत दुःख देती है। यह कभी समाप्त नहीं होती और इसके कारण मनुष्य कामना के पीछे दौड़ता रहता है। इसलिए बुद्धि के द्वारा इसे दबाना चाहिए, विवाह करके जीवन को

बढ़ाना नहीं चाहिए, और कोशिश यह करनी चाहिए कि यह व्यर्थ जीवन शीघ्र से शीघ्र समाप्त हो।

इन बातों का यद्यपि समर्थन नहीं किया जा सकता, परन्तु इच्छा-शक्ति का सूत्र पकड़कर शापेनहावर ने मानव-जीवन के अनेक पक्षों तथा समस्याओं का इतना सुन्दर विश्लेषण किया कि अनेक नवीन बातों का पता चला और जीवन का ज्ञान भी विस्तृत हुआ। मनोविज्ञान को नई दृष्टि मिली और नई शोधों का आरम्भ हुआ।

वास्तव में शापेनहावर के निराशावादी दर्शन के लिए वह खुद नहीं, उसका युग ही दोषी था। फ्रेंच की राज्यक्रान्ति मर चुकी थी, नेपोलियन सम्पूर्ण यूरोप पर विजय प्राप्त करने के बाद हार चुका था और सेंट हेलेना में कैद होकर सड़ रहा था, तथा उसके अभियानों ने सम्पूर्ण महाद्वीप में जो तबाही मचाई थी, उससे जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। लाखों लोग मर चुके थे, खेत वीरान पड़े थे, मास्को जैसे महानगर जल चुके थे और कार्लाइल के शब्दों में 'लोग पानी पीकर अपना पेट भरने की कोशिश करते थे'। यह निराशा इतनी व्यापक थी कि सभी देश निराशावादी कवि, लेखक तथा संगीतज्ञ ही उत्पन्न कर रहे थे। लेकिन इस तरह का दार्शनिक केवल एक ही हुआ और वह था शापेनहावर। उसने यह नहीं कहा कि यह अव्यवस्था यूरोप में ही है, उसने उसे दूर तक फैलाते हुए सख्ती से कहा, कि यह अव्यवस्था सम्पूर्ण विश्व में ही विद्यमान है, कि संसार का कोई निर्माता नहीं है, यदि है तो वह क्रूर और अन्धा है, कि पाप संसार की नस-नस में समाया है, कि मानवता के लिए कहीं कोई आशा शेष नहीं है।

● ● ●

H 180/K96P 44020

शापेनहावर का जीवन और चरित्र भी निराशा, कटुता, अहंकार, पागलपन आदि का एक अजीब सा सम्मिश्रण है। उसके पिता व्यापारी थे और उनका मिजाज भी गरम रहता था। कहते हैं, वे आत्महत्या करके मरे थे। खुद उनके पिता भी पागल हो गए थे। शापेनहावर की माता अच्छी उपन्यास-लेखिका थीं, परन्तु बेटे से उनकी कभी बनी नहीं। इसके लिए वे खुद तो दोषी थी ही क्योंकि उनका स्वभाव भी बड़ा तेज-तर्रार था और पति की मृत्यु के बाद उन्होंने बहुत स्वतन्त्र जीवन बिताना शुरू कर दिया था, जो शापेनहावर को पसन्द नहीं था। परन्तु शापेनहावर भी इसके लिए कम दोषी नहीं थे क्योंकि वे माता का जरा भी लिहाज नहीं करते थे और उन्हें खरी-खरी सुनाते थे। इसलिए वे दोनों अलग-अलग

रहने लगे और सामाजिक अवसरों पर ही एक दूसरे से मिलते थे। फिर गेटे के कारण, जिसने माँ से यह कहा कि तुम्हारा बेटा एक दिन बहुत यश प्राप्त करेगा, एक दिन माँ-बेटे में ऐसी गहरी लड़ाई हुई कि दोनों सदा के लिए बिलकुल अलग हो गए और २४ साल बाद माँ की मृत्यु से ही यह झगड़ा खत्म हो सका।

जिस व्यक्ति को माँ का प्यार न मिलकर उसको तीव्र घृणा ही मिली हो, और जिसके लिए वह खुद भी कम जिम्मेवार न हो, वह कितना अभागा है ! यह भी नहीं कहा जा सकता कि शापेनहावर खुद बड़े चरित्रवान थे और माँ की निंदा करना उनके लिए ठीक था क्योंकि, यद्यपि उन्होंने आजीवन विवाह नहीं किया, उनका सम्बन्ध कई स्त्रियों से रहा जो कभी सुखी नहीं रहा और, कहते है, उनके एक अवैध लड़का भी हुआ जिसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। फिर भी, उनका अपना ही कथन है कि 'सन्तान अपने माता-पिता के गुणों को ही ग्रहण करती है', जो उनके अपने बारे में जरूरत से ज्यादा सच था।

शापेनहावर को शिक्षा की सब सुविधाएँ प्राप्त थीं और उसने उनका उपयोग भी किया। उसने कई भाषाएँ सीखी और प्राचीन तथा नवीन दर्शनों का गहरा अध्ययन किया। भारतीय दर्शनों का भी उसने अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। फिर उसने 'दि फोरफ़ोल्ड रूट आव सफीशेंट रीज़न' थीसिस लिखकर डाक्टरेट प्राप्त की। परन्तु बचपन से ही वह उदास, शंकालु तथा क्रोधी हो गया और उसे अजीब अजीब डर भी सताने लगे। वह हमेशा अपने सिरहाने भरी हुई पिस्तौल रखता था और छुरे के डर से नाई के यहाँ नहीं जाता था। थोड़े से शोर से भी वह बेहद परेशान हो उठता था। लेकिन वह अपने को बड़ा प्रतिभाशाली समझता था और सोचता था कि लोग उसकी कद्र नहीं करते। इसलिए वह सदा अपने भीतर घुटता रहता था। उसमे यौवनोचित साहस और प्रखरता की भी कमी थी। नेपोलियन के विरुद्ध जो स्वतन्त्रता के संघर्ष चल रहे थे, उनमें वह कभी सम्मिलित नहीं हुआ।

थीसिस के बाद उसने अपना सारा समय अपना मुख्य ग्रन्थ 'दि वर्ल्ड एज़ विल एंड आइडिया' के लिखने में लगाया। प्रकाशक को यह किताब भेजते हुए उसने लिखा—'यह बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। भविष्य में इसके आधार पर सैकड़ों नए ग्रन्थों की रचना की जाएगी'। यह गलत नहीं था परन्तु ऐसा हो पाने में बहुत समय लगा।

प्रकाशित होने पर पुस्तक को किसी ने नहीं पढ़ा और सोलह साल तक वह रद्दी में बेची जाती रही। पुस्तक बड़ी व्यावहारिक भाषा में, उदाहरण आदि से भरपूर, बहुत मनोरंजक ढंग से लिखी गई थी परन्तु लोगों के पास उसे खरीदने को पैसा नहीं था और न कुछ नया पढ़ने की उन्हें इच्छा थी—वे इतनी गहरी निराशा में डूबे हुए थे।

शापेनहावर के अहंकार को इससे बड़ी चोट पहुँची और उसने तरह-तरह से लोगों को भला-बुरा कहना शुरू कर दिया। परन्तु उसने लिखना बन्द नहीं किया। एक के बाद एक उसकी चार-पाँच किताब प्रकाशित हुईं परन्तु उनका भी वैसा ही स्वागत हुआ, जैसा पहली पुस्तक का हुआ था।

शापेनहावर जर्मनी के विश्वविद्यालयों में दर्शन पर भाषण देने के स्वप्न भी देखा करता था। बड़ी मुश्किल से उसे बर्लिन विश्वविद्यालय का निमन्त्रण प्राप्त हुआ। वह गया और भाषण देने का दिन और समय उसने वही निश्चित किया, जिस समय तत्कालीन जर्मनी का सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल भी वहाँ भाषण दिया करता था। शापेनहावर ने यह इसलिए किया कि लोग उसे भी हीगेल की कोटि का दार्शनिक मानें। परन्तु लोगों में इतनी समझ कहाँ थी, वे शापेनहावर को सुनने गए भी नहीं, हीगेल के ही थियेटर में भीड़ लगाए रहे, और फलस्वरूप नाराज होकर शापेनहावर ने त्यागपत्र दे दिया। साथ ही उसने हीगेल का तीव्र विरोध करना भी आरम्भ कर दिया।

शिक्षक के रूप में शापेनहावर को सफलता सम्भवत: इस कारण भी नहीं मिली क्योंकि जीवित रहने के लिए उसे काम करने की आवश्यकता ही नहीं थी। उसे अपने पिता के कारोबार से इतना पर्याप्त धन मिल जाता था कि वह बिना कुछ किए-धरे आराम से रह सके और अपनी किताबें लिखता रहे। दार्शनिक होते हुए भी वह पैसे के मामलों में बड़ा चतुर था। एक कम्पनी के, जिसमें उसके शेयर थे, फेल हो जाने पर दूसरे शेयरहोल्डर तो कुछ कम पैसा लेकर चुप हो जाने को राजी हो गए, परन्तु शापेनहावर नहीं माना और झगड़ा-टंटा कर पूरा पैसा वसूल करके ही उसने शान्ति की साँस ली।

अकेला होने के कारण शापेनहावर किसी बोर्डिंग में रहता था और अन्त तक वहीं रहता रहा। एक कुत्ते के अतिरिक्त और कोई उसका साथी नहीं था और उसे वह भारतीय शब्द 'आत्मा' कहकर पुकारता

था। परन्तु पड़ोसी उसे 'छोटा शापेनहावर' कहते थे। कहते हैं, जिस होटल में वह खाना खाता था, वहाँ रोज़ वह मेज पर एक सोने का सिक्का रख देता था और खा चुकने पर उसे फिर जेब में डाल लेता था। इस अजीब हरकत को बहुत दिन देखते रहकर एक वेटर ने जब इसका कारण पूछा, तब उसने कहा, 'जिस दिन मेरे पड़ोसी खाने वाले औरतों, घोड़ों और कुत्तों के अलावा किसी अन्य विषय की चर्चा करेंगे, उस दिन यह सिक्का मैं गरीबों को दान कर दूंगा।'

१८४८ की असफल क्रान्ति के बाद आखिरकार जर्मनी में वह समय आया, जब क्रान्ति की असफलता से दुःखी और निराश जर्मन शापेनहावर के निराशावादी दर्शन की ओर आकृष्ट हों। धीरे-धीरे लोगों ने उसकी किताबें पढ़ना शुरू किया और उसका आदर होने लगा। इन लोगों में अधिकांश व्यक्ति मध्यवित्त वर्ग के थे और वास्तविक जीवन का विश्लेषण होने के कारण शापेनहावर का दर्शन उनको निकट का जान पड़ा।

इस समय यद्यपि शापेनहावर बहुत वृद्ध हो गया था, परन्तु उसने अपनी लोकप्रियता का खूब आनन्द लिया। वह उन सब कतरनों को अपने खर्च से मँगाकर बड़े ध्यान से पढ़ता था, जिनमें उसकी चर्चा होती थी। प्रसिद्ध संगीतकार वेगनर ने भी उसकी प्रशंसा की, जिससे खुश होकर ७० साल के इस बूढ़े ने रात के खाने के बाद बाँसुरी बजाना आरम्भ कर दिया। अब उसका निराशावाद खत्म हो चुका था। यदि वह कुछ दिन और जीवित रहता या उसे यह ख्याति कुछ साल पहले ही मिल गई होती, तो सम्भवतः वह अपने दर्शन में भी कुछ संशोधन कर जाता।

उसकी सत्तरवीं सालगिरह पर लोगों ने उसका अभिनन्दन किया। अब शायद वह सन्तुष्ट था और दुनिया से जाने को तैयार था। दो साल बाद एक दिन नाश्ता करते हुए ही वह चुपचाप अन्तिम निद्रा में सो गया। वह 'निर्वाण' का बड़ा प्रेमी था और बड़ी शान्तिपूर्वक उसे यह प्राप्त भी हो गया।

● ● ●

अपनी प्रमुख पुस्तक 'दि वर्ल्ड एज़ विल एंड आइडिया' में शापेनहावर कहता है कि उसने परम सत्य की जानकारी प्राप्त कर ली है। उसके पहले कांट ने इस परम सत्य की, जो संसार को वास्तविक गति देता और चलाता है, कल्पना ही की थी, उसका कोई निश्चित रूप नहीं बताया था। यह कार्य भी उसने विचार और तर्क की सहायता से ही

किया था। परन्तु शापेनहावर ने घोषित किया कि शुद्ध आन्तरिक अनुभूति के द्वारा मैंने इच्छाशक्ति को ही उस परम सत्य के रूप में देखा है जिसके कारण मनुष्य तथा अन्य जीव जन्तु चलते-फिरते तथा गति प्राप्त करते हैं। उसने कहा कि जिस मस्तिष्क और बुद्धि से हम सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह भी इच्छाशक्ति की ही सन्तान है। यह शक्ति बड़ी प्रखर तथा तेजस्वी है तथा सब विघ्न-बाधाओं को पार करती आगे ही बढ़ती चली जाती है।

संसार के सभी दार्शनिकों ने विचार और चेतना को ही मस्तिष्क का सार माना है, परन्तु शापेनहावर ने कहा कि यह सही नहीं है। उसने कहा कि चेतना तो बुद्धि की ऊपरी सतह भर है, इसके नीचे कुछ और ही छिपा है जो इससे कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। जिस तरह पृथ्वी की ऊपरी सतह के नीचे लावा तथा अन्य पदार्थ होते हैं, उसी तरह चेतना के नीचे अचेतन या सचेत इच्छाशक्ति होती है। मूल शक्ति वही है और भले ही कभी कभी यह प्रतीत होता हो कि बुद्धि इच्छाशक्ति को संचालित कर रही है, परन्तु यह गलत है और उस सशक्त अँधे की तरह जो अपने लंगड़े मित्र को कंधे पर रखकर लिए फिरता है, यह भी बुद्धि को संचालित करती रहती है। किसी वस्तु को हम इसलिए नहीं चाहते कि उसे चाहने के उचित कारण हमारे पास हैं, उसे हम पहले चाहते हैं और फिर उचित कारणों की तलाश कर लेते है। शापेनहावर ने कहा कि अपनी इच्छाओं पर परदा डालने के लिए ही हम तरह-तरह के दर्शनों का निर्माण कर लिया करते हैं। और यह शायद सच भी है, गहराई से सोचने पर अपने रोजमर्रा के अनुभवों में हम इसकी सत्यता देख सकते हैं।

इसलिए शापेनहावर मनुष्य को 'दार्शनिक पशु' कहता है, क्योंकि असली पशु बिना दर्शन या विचार के इच्छाएँ करते हैं। किसी भी मनुष्य को कभी भी तर्क के द्वारा नहीं समझाया जा सका, उसे समझाने के लिए उसके स्वार्थों तथा कामनाओं को अपील करना जरूरी है। हम अपनी असफलताओं को भूल जाते हैं, परन्तु सफलताओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद रखते हैं। स्मृति भी इच्छाशक्ति की दासी है। खतरों तथा अभावों में ही बुद्धि का पूर्ण विकास होता है और संकट के युगों में ही उत्तम साहित्य और कला का निर्माण होता है।

खाने-कपड़े तथा स्त्री-पुत्रों के लिए मनुष्य की जो यह हलचल है, वह उसकी अन्तर्निहित जीने की इच्छा का ही परिणाम है। यही उन्हें पीछे

से धक्का देकर आगे बढ़ाती है। इच्छाशक्ति यदि प्रधान मन्त्री है, तो बुद्धि केवल विदेश मन्त्री का काम करती है। यही चेतना की सब क्रियाओं में एकता स्थापित करती है तथा विचारों को परस्पर बाँधती और चलाती है। मनुष्य का चरित्र भी उसकी इच्छाशक्ति की स्थिरता तथा प्रखरता से आँका जाता है, विचारों से नहीं। इसीलिए साधारण जन अच्छे 'दिल' वालों को ज्यादा पसन्द करते हैं, अच्छे 'दिमाग़' वालों को उतना नहीं।

शरीर भी इच्छाशक्ति की रचना है। जीने की इच्छा उसका निर्माण करती है। फिर खाने की इच्छा से मुँह, पेट आदि बनते हैं, जानने की इच्छा से मस्तिष्क, देखने की इच्छा से आँखें। इच्छा होने पर ही मनुष्य का शरीर कोई हरकत करता है, न होने पर चुप, उदास बैठा रहता है। पशु-पक्षियों तथा वृक्षों में भी यही शक्ति काम करती है। उनमें बुद्धि तो बहुत ही थोड़ी होती है, फिर भी उसकी वृद्धि कभी रुकती नहीं। वृक्ष से मनुष्य श्रेणी तक आने में बुद्धि ही बढ़ती रही है, इच्छाशक्ति उतनी ही रही है।

इस प्रकार इच्छाशक्ति मूलत: जीने की इच्छा है, मृत्यु जिसकी शत्रु है, परन्तु वह इसे भी हरा देती है। कैसे ? स्वतः को पुनः उत्पन्न करके, सन्तानों की परम्परा चलाकर। सृष्टि का प्रत्येक जीवित प्राणी सन्तान उत्पन्न करता है। इसके बिना वह रह नहीं सकता। अतः जननेन्द्रियाँ ही जीवन शक्ति की असली केन्द्र हैं। ग्रीकों ने इसीलिए इसकी पूजा की और भारतीय भी सदा से लिंग और योनि की पूजा करते आए हैं।

यौन आकर्षण सृष्टि का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है। व्यक्ति प्रजनन के लिए अचेतन रूप से ऐसा ही साथी ढूँढता है, जो उसकी कमियों को पूर्ण करे। दुर्बल पुरुष स्वस्थ स्त्री तलाशता है। सहज प्रेम से ही यह सम्भव है, माता-पिता द्वारा निश्चित विवाहों से नहीं। परन्तु इसीलिए प्रेम विवाह सफल नहीं होते—उनका उद्देश्य उत्तम संतति देना होता है, व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना नहीं। फिर भी प्रेम-विवाह प्रकृति की आवश्यकता को सही रूप में पूर्ण करते हैं।

शापेनहावर का दर्शन यहाँ तक तो ठीक प्रतीत होता है, परन्तु इसके आगे वह गलत दिशा में बढ़ने लगता है। वह कहता है कि यदि संसार इच्छाशक्ति है, तो उसे दुःखमय भी होना ही चाहिए। क्यों ? सर्व-प्रथम इसलिए कि इच्छा कमी की ही द्योतक है, वह हमेशा अपनी

क्षमता से आगे की ही वस्तु पाना चाहती है। इच्छा अनन्त है, पूर्ति सदा सीमित होती है। भिखारी की तरह वह कभी सन्तुष्ट नहीं होती। द्वितीय इसलिए कि पूर्ति से कभी सन्तोष नहीं होता, उससे सदा एक नई इच्छा उत्पन्न होती है और यह क्रम कभी रुकता नहीं है। तृतीय इसलिए कि पूर्ति के लिए सदा बहुत श्रम करना पड़ता है और दुःख उठाना होता है। कोई भी इच्छा आसानी से पूर्ण नहीं होती। चतुर्थ इसलिए कि दुःख और कष्ट से ही इच्छा को स्फुरणा प्राप्त होती है।

अतः सुख भावात्मक वस्तु नहीं है, दुःख ही भावात्मक है और सुख दुःख के अभाव का ही नाम है। यहाँ शापेनहावर यह भूल गए कि खुशी हर अच्छी चीज़ को देखने और पाने से होती है—शायद इसलिए कि उन्होंने खुद कभी कोई अच्छी चीज न देखी, न पाई—और छोटे बच्चों का खेलना, फूलों का खिलना आदि देखकर किसके मन में प्रसन्नता और सन्तोष की लहर नहीं दौड़ जाती। भले ही एक इच्छा की पूर्ति से दूसरी इच्छा उत्पन्न होती है, परन्तु इससे पहली पूर्ति का महत्त्व नहीं कम हो जाता। जिसकी इन्द्रियाँ शिथिल हों या दिमाग़ खराब हो, वही पूर्ति का सुख जानने में असमर्थ रहेगा।

इसलिए शापेनहावर ने घोषित कर दिया कि जीवन एक बुराई है, पाप है। बस, यहीं से उसका दर्शन अंधे कुएँ की तरफ चल पड़ा। उसने कहा कि ज्ञान से मनुष्य का दुःख कम नहीं हो सकता। वास्तव में ज्ञान के बढ़ने से दुःख भी बढ़ता है। सुख के लिए अज्ञान आवश्यक है। मृत्यु मनुष्य के दुःख को और भी बढ़ाती है। इसलिए पूर्वीय दर्शन मनुष्य को यह सिखाते हैं कि जिन्दगी बहुत छोटी है, उसमें खो मत जाओ, धीरे-धीरे चलते हुए उसे शान्तिपूर्वक बिता दो।

ऐसी विश्व-परिस्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिए? शापेन-हावर कहता है कि धन सम्पत्ति से सुख नहीं मिल सकता। इसलिए मनुष्य उसके चक्कर में न पड़े और तृष्णा पर लगाम लगाए। यहाँ शापेनहावर यह मानने में संकोच नहीं करता कि बुद्धि इच्छाशक्ति का नियन्त्रण कर सकती है और उसे करना भी चाहिए। वह कहता है कि आत्महत्या जैसे कार्य मनुष्य तभी करता है, जब उसकी बुद्धि इच्छाशक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण पा लेती है।

अतः मनुष्य को चाहिए कि वह दर्शन के ग्रन्थ पढ़कर अपनी इच्छाशक्ति को शुद्ध करे और अपने आचरण का नियन्त्रण करे। वह

अपनी कामनाओं और वासनाओं को पथभ्रष्ट न होने दे। वह ऐसा संस्कृत जीवन बिताए जिसमें न उसे खुद दुःख हो, न उसके कारण अन्य व्यक्ति ही दुःख पाएँ। वह प्रसिद्धि की आकांक्षा न करे और जो उसे प्राप्त है, उसी में सन्तोष माने। वह संसार के महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़े और उनके जैसा बनने का प्रयत्न करे।

अपने यौवनकाल में शापेनहावर धर्म का विरोध करता था, परन्तु अब उनका समर्थन करने लगा। उसने कहा कि लोगों ने धर्म की वास्तविक महत्ता को समझा नहीं है, जो चरित्र की शिक्षा देना है। ईसाईयत को उसने उत्तम निराशावादी धर्म माना, बुद्ध धर्म को उससे भी श्रेष्ठ। उसने कहा कि 'ऑरिजिनल सिन' की ईसाई धारणा बहुत बड़ा सत्य है—क्योंकि इससे जीवन का नकार होता है और उस पर काबू पाया जाता है। इसी तरह उपवास की भी उसने बड़ी प्रशंसा की क्योंकि उससे इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं। उसने कहा कि जीवन को नियन्त्रित करने वाले होने के कारण ही ये धर्म संसार में बड़ी तेजी से फैले, जब कि जीवन के सुखों को बढ़ावा देने वाले ग्रीक और रोमन आदि धर्म नष्ट हो गए।

बौद्ध 'निर्वाण' को उसने जीवन का सर्वोत्तम आदर्श घोषित किया। निर्वाण का अर्थ है जीवन तथा इच्छाशक्ति का पूर्ण विनाश। शापेनहावर ने यह भी सम्भावना प्रकट की कि ईसाई धर्म से श्रेष्ठ होने के कारण बुद्ध धर्म यूरोप को बहुत प्रभावित करेगा। इसी तरह उसने यह भी कल्पना की कि इच्छाशक्ति का क्षय होते-होते एक दिन वह भी आएगा, जब सम्पूर्ण मानवता को एक साथ निर्वाण प्राप्त हो जाएगा, अर्थात् सब मर जाएँगे और पृथ्वी पर पशु और वृक्षों के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहेगा।

जीवन की धारा को रोकने का उसने एक और भी उपाय बताया—प्रजनन को रोक देना, जो उसने खुद भी किया। उसने कामेच्छा की बड़ी निन्दा की और इसीलिए स्त्रियों का बड़ा विरोध किया। उसने कहा कि वे शैतान हैं जो प्रजनन के लिए पुरुषों को आकृष्ट करती हैं। मनुष्य क्षणिक सुख के लिए भविष्य को भूल जाता है और फिर पछताता रहता है।

उसने कहा कि प्रजनन के निमित्त पुरुष को आकृष्ट करने के लिए ही प्रकृति ने स्त्री को सौन्दर्य दिया है। जब तक उसमें प्रजनन की क्षमता रहती है, तभी तक उसका यह आकर्षण भी रहता है, फिर नष्ट हो जाता है। परन्तु पुरुष भी स्त्री से कम सुन्दर नहीं है—वास्तव में वह इन छोटे आकार की, तंग कंधों, चौड़े कूल्हों और दुबले पैरों वाली स्त्री जाति से

कहीं ज्यादा सुरूप है। उन्हें न कलाओं में रुचि होती है, न ज्ञान-विज्ञान में। संसार में कितनी स्त्रियों ने किसी भी क्षेत्र में नाम कमाया है? यूरोपवासियों की अपेक्षा एशिया के लोग स्त्रियों को उनका सही स्थान प्रदान करते है। वे उन्हें समानाधिकार नहीं देते, बहुविवाह करते हैं और उन्हें सम्पत्ति में भी हिस्सा नहीं देते। जैसा हिन्दुस्तान में होता है, कि स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहती है, वैसा ही सर्वत्र होना चाहिए। स्त्रियों के लिए यह सर्वोत्तम व्यवस्था है।

यहाँ शापेनहावर के कला सम्बन्धी विचारों का भी विहंगावलोकन कर लें। उसने कहा कि कला का कार्य है बुद्धि को इच्छाशक्ति के चंगुल से मुक्त करना। कैसे? बुद्धि को इच्छाहीन सत्य के जगत् में ऊपर उठाकर। सौन्दर्य की अनुभूति के सक्षिप्त क्षणों में मनुष्य संसार से ऊपर उठ जाता है और शुद्ध विचारों पर—उनकी पूर्ति पर नहीं—अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। तब उसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् परिवर्तनशील वस्तुओं के भीतर रहने वाले अपरिवर्तनीय तत्त्व का ज्ञान, वही कला है। कला अमर विचारों को भौतिक माध्यम से व्यक्त करने का साधन है। जो व्यक्ति यह कार्य करता है, वह 'जीनियस' होता है। जीनियस इसीलिए सामान्य जनता को पागल प्रतीत होता है क्योंकि वह शुद्ध बुद्धि के धरातल पर रहता है, इच्छा के धरातल से ऊपर उठ जाता है।

कलाओं में भी एक क्रम है। स्थापत्य सबसे नीची कला है, फिर मूर्तिकला का स्थान आता है, फिर कविता का, और अन्त में संगीत का। संगीत सर्वोत्तम कला है क्योंकि जहाँ अन्य कलाएँ विचारों को ही व्यक्त करती हैं, वहाँ संगीत विचारों की सीमा को तोड़कर भीतर घुस जाता है और वहाँ रहने वाली इच्छाशक्ति को व्यक्त करता है। इच्छाशक्ति की अपार चंचलता, वेगवान प्रखरता तथा शाश्वत अतृप्ति संगीत से ही व्यक्त होती है।

यह है संक्षेप में शापेनहावर के दर्शन का मुख्य भाग जिसमें सही है, तो गलत भी है और जो उसके अपने जीवन के पूर्णतः अनुरूप है। तमाम जिन्दगी बोर्डिंग हाउस में बिताने वाला व्यक्ति आशावादी दर्शन दे ही कैसे सकता था? उसका एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह भी है कि उसने मनोवैज्ञानिकों को उनके भावी कार्य की असली कुंजी दे दी जिससे वे अनेक बहुमूल्य रत्न निकालने में समर्थ हो सके। ●

किर्केगार्ड

१८१३-१८५५

अस्तित्ववाद विश्व की दार्शनिक परम्परा की नवीनतम कड़ी है और यद्यपि अभी तक यह समग्र दर्शन नहीं बन सका है, इसका प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक है। इसने बहुत से बुद्धिजीवियों को अपने घेरे में समेट लिया है और साहित्य तथा कला के सभी रूपों पर अपनी मुद्रा अंकित की है। साहित्य को तो इसने अपनी अभिव्यक्ति का एक यन्त्र ही बना लिया है—सार्त्र या कामू का दर्शन उनके उपन्यासों से जितना सही समझ में आता है, उतना वह उनके दार्शनिक ग्रन्थों से नहीं। इसका कारण सम्भवत: यह है कि वास्तविक जीवन और मनुष्य का दु:ख तथा भय ही अस्तित्ववाद का मुख्य विषय है जो उपन्यासों और कहानियों में बड़ी सरलता से चित्रित किया जा सकता है। और सम्भवतः बहुरूपी जीवन के इतना समीप होने के कारण ही उसे परिभाषा की रस्सी में नहीं बाँधा जा सका है। जीवन की ही तरह अस्तित्ववाद के भी अनेक रंग और पहलू हैं—तथा काम, प्रेम आदि की विकृत और अविकृत बूएँ भी हैं—और उससे बहुत ज्यादा अनुशासन की आशा करना उचित नहीं है।

अस्तित्ववाद यद्यपि फ्रांस और जर्मनी का दर्शन है परन्तु इसका जन्म डेनमार्क में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ माना जाता है। किकगार्ड को इसका जनक कह सकते हैं, जिसकी कृतियाँ काफी समय बाद, उन्नीसवीं शताब्दी में, यूरोप की भाषाओं में अनूदित होकर वहाँ के बुद्धिजीवियों और लेखकों को प्रभावित करने लगीं। लोगों ने पाया कि उसने मनुष्य की स्थिति को जिस पहलू से देखा है तथा उसकी वेदना जिस भाषा में अभिव्यक्त की है, वह आज के ध्वंस और नाशग्रस्त मानव की

सामान्य स्थिति तथा वेदना से बिलकुल मिलती जुलती है। इसलिए उन्होंने उसके सूत्र को पकड़ कर आगे चलना शुरू कर दिया और शीघ्र ही अनेक नई राहें खोज डालीं। हुआ यह कि इन राहों पर चलकर वे जहाँ आ पहुँचे हैं, वह किर्केगार्ड के मूल से बिलकुल नहीं मिलता, और प्रायः विरोधी भी प्रतीत होता है, परन्तु सम्भवतः इसी में उसकी व्यापकता का रहस्य तथा शक्ति का स्रोत छिपा है। किर्केगार्ड वास्तव में एक धार्मिक विचारक है—और वह भी अत्यन्त शुद्धता और पूर्ण समर्पण वादी—जब कि नवीनतम अस्तित्ववाद ने ईश्वर तथा धर्म का जड़मूल से नाश कर दिया है और एक बिलकुल नया आचारशास्त्र बनाकर खड़ा कर दिया है।

● ● ●

अपनी शक्लोसूरत और रंग-ढंग में किर्कगार्ड एक बहुत मामूली किस्म का आदमी था जो जीवन भर समाज का भरपूर विरोध सहता रहा। उसकी नाक लम्बी, आँखें जरूरत से ज्यादा बड़ी, पैर बहुत दुबले और पीठ पर ऊँचा कूबड़ था। इसलिए कोपेनहेगेन के समाचार-पत्रों को उसका कार्टून छापने में बड़ा मजा आता था। वे बड़ी निर्दयता से उसके विरुद्ध लेख भी लिखते थे और तरह-तरह से उसका मजाक उड़ाते थे। परन्तु इन्हीं समाचार-पत्रों के सम्पादकों ने उसकी मृत्यु के दूसरे दिन ही उसे 'डेनमार्क की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा' घोषित कर दिया।

वास्तव में वह युग बड़ी शान्ति और स्थिरता का था और गहरी पीड़ा तथा कष्ट की बातें हर इतवार चर्च जाकर प्रार्थना करने वाले सामान्य गृहस्थों की समझ में नहीं आती थीं। अपनी आपसी चर्चा में वे कहते थे कि किसी असफल प्रेम के कारण किर्कगार्ड का दिमाग़ फिर गया है। सच यह है कि किर्केगार्ड के मनोव्यापार को समझ पाना किसी के बस की बात नहीं थी क्योंकि वह भविष्य के मानव-मन की झाँकी थी, उस युग के मानव-मन का उससे कोई सरोकार ही नहीं था। इसलिए किर्कगार्ड को भविष्यद्रष्टा माना जाता है और अपने विषय में भी उसका यह कथन सौ फीसदी सच हुआ कि 'यह कितने खेद की बात है कि लोग मेरे भीतर निहित सत्य को समझ नहीं पाते। मेरी मृत्यु के बाद वे मेरी इतनी अधिक प्रशंसा करेंगे कि तत्कालीन पीढ़ी यह सोचेगी कि अपने जीवनकाल में मेरा बहुत ज्यादा सम्मान किया जाता रहा। आज के मेरे निन्दक कल नितान्त विरोधी बातें कहने लगेंगे और तब सब कुछ गड़बड़ में पड़ जाएगा। सत्य की यही नियति और भवितव्य होता है।'

ऐक धनी व्यापारी परिवार में किर्कगार्ड का जन्म हुआ था। उसके पिता बड़े धार्मिक व्यक्ति थे और पाप (ऑरिजिनल सिन) की भावना से बड़े ग्रस्त थे। उन्हें चारों तरफ शैतान के कारनामे और नरक के दृश्य दिखाई देते थे। उनके चेहरे पर कभी हंसी नहीं आती थी और घर भर में सदा गहरी उदासी और भय का वातावरण छाया रहता था। पिता अपने पड़ोसियों और बच्चों को पाप से बचने और पवित्रता की ओर बढ़ने का उपदेश देते रहते थे। बालक सॉरेन किर्कगार्ड की कल्पना में ये बातें और भी फूल-फूलकर प्रकट होती थीं और वह बड़ा चिन्तित और परेशान रहता था। आत्मा को पवित्रता कैसे प्राप्त की जाए—इससे बढ़कर महत्त्व की कोई बात उसके लिए नहीं थी। आजीवन यह समस्या उसे परेशान किए रही और ईश्वर का पूर्ण सान्निध्य प्राप्त करना ही उसके सब क्रिया-कलाप, चिन्तन तथा लेखन का उद्देश्य बन गया।

वह अपने पिता को ईश्वर के समान ही श्रेष्ठ समझता था। परन्तु एक बार जब उसे उनकी वासनाओं का कच्चा चिट्ठा ज्ञात हुआ, तब उसे बड़ा मानसिक आघात पहुँचा और जैसे उसकी दुनिया ही बदल गई। लज्जा के कारण वह पिता के सामने पीठ करके ही खड़ा होता और बातचीत करता था। सॉरेन की माँ पहले उसके पिता की नौकरानी थी जिसके साथ बाद में उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया था। वास्तव में वह बहुत सीधी स्त्री थी, परन्तु सॉरेन उससे बोलता तक नहीं था। पाप के इस दमघोटू वातावरण में सॉरेन तथा उसके एक भाई को छोड़कर शेष सब मर-खप गए।

विश्वविद्यालय में उसने धर्म, दर्शन तथा साहित्य पढ़ा। वह खूब मौज उड़ाता और खर्च करता था और उसने काफी कर्जा भी कर लिया। शायद यह उसकी बचपन की कुंठाओं की प्रतिक्रिया थी और वह स्वतंत्र तथा समर्थ मनुष्य बनना चाहता था। परन्तु वह परम्परागत मूल्यों को तोड़ नहीं सका और बहुत कुछ मानसिक वेदना तथा संघर्ष झेलकर फिर उन्हीं के पीछे चलने लगा। एक दृष्टि से यह उसकी विजय ही थी क्योंकि वह अधिकाधिक निर्मल और पवित्र ही बनना चाहता था।

रेजिना आल्सेन नामक एक अत्यन्त सुन्दरी युवती से उसका विवाह निश्चित हो गया परन्तु दो साल तक उसे लटकाए रखकर अन्त में उसने विवाह करने से इनकार कर दिया। यह उसके जीवन की केन्द्रीय घटना है और विद्वानों ने इसका अनेक प्रकार से विश्लेषण किया है। शायद

'ऑरिजिनल सिन' की भावना उस पर इतनी सवार थी कि वह अपनी पत्नी के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था। वैसे वह रेजिना को पूजा की सीमा तक प्यार करता था। इसका एक कारण यह भी बताया जाता है कि बचपन में किए गए एक यौन-दुष्कृत्य के कारण—जिसकी वह अक्सर चर्चा करता था—वह अपने को इस पवित्र देवी के योग्य नहीं समझता था। इसलिए वह आजीवन कुँवारा रहा और अकेला जीवन बिताता रहा।

इसी बीच—२५ वर्ष की अवस्था में—उसे एक आन्तरिक अनुभव भी हुआ जिसमें उसे लगा कि उसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है। वह इसे 'अनिर्वचनीय आनन्द' की स्थिति घोषित करता है। इस घटना ने भी उसे सांसारिक बातों से अलग कर दिया और उसे लगने लगा कि वह एक विशेष कार्य करने के लिए संसार में उत्पन्न हुआ है। अब तो उसने और भी गम्भीरता से अपने चिन्तन तथा लेखन का कार्य आरम्भ कर दिया। परन्तु उसके भीतर एक तीव्र आन्तरिक संघर्ष अन्त तक बना रहा जिसके कारण वह सदा गहरी उदासी में डूबा रहा और बड़ी कटुता से संसार में फैले—उसकी दृष्टि में—पाप का विरोध करता रहा। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि अपनी शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताओं तथा पीठ के कूबड़ के कारण उसने बनावटी वीरता का आश्रय लिया और इसी में से उसकी प्रतिभा भी उत्पन्न हुई।

किर्केगार्ड के लेखन में कवि और विद्वान् ही नहीं, चिन्तक और उपदेशक, योद्धा और मज़ाकिया भी प्रचुर मात्रा में है। वह अपने विरोधियों की अच्छी खबर लेता है और डटकर व्यंग्य विनोद करता है। इस कारण उसकी रचनाएँ बहुत शीघ्र लोकप्रिय हो गईं और शायद इसी कारण ६०-७० साल बाद फिर से प्रकाशित होकर भी प्रभावी हो सकीं। विषय प्रतिपादन का उसका ढंग भी अनोखा है। वह अप्रत्यक्ष रूप से, विरोधाभासों के द्वारा, कथा-कहानियों तथा चुटकियों के द्वारा वेष बदल कर बात को प्रस्तुत करता है। उसने अनेक अजीब उपनामों से लिखा, जैसे 'हंसोड़ वक्ता', 'कठोर भ्राता' आदि तथा अपनी कई किताबों के नाम भी बड़े अजीब से रखे जैसे "यह अथवा वह" और "अभी भी जीवित व्यक्ति के कागज़ात"। एक पुस्तक के आरम्भ में उसने लिखा—"मेरी इच्छा के विरुद्ध प्रकाशित।"

किर्केगार्ड ने चर्च का बड़ा विरोध किया। वह कहता था कि

डेनमार्क में चर्च राजसत्ता का एक अंग बन गया है और उसी की तरह शानोशौकत की जिन्दगी बसर करता है। चर्च के प्रधान को सरकार ही नियुक्त करती है और उसके द्वारा अपने स्वार्थ सिद्ध करती है। किर्केगार्ड के समय में मिन्स्टर चर्च का प्रधान था, और उसे चर्च का प्रतिनिधि मानकर किर्केगार्ड ने अपना जेहाद छेड़ दिया। उसने मिन्स्टर को ईसाई-धर्म का शत्रु घोषित किया और तरह-तरह से उसकी आलोचना की। उसने कहा कि ईसाइयत और सांसारिकता में समझौता नहीं हो सकता, दोनों उत्तर और दक्षिणी ध्रुवों की तरह विरोधी हैं। अगर ईसा फिर वापस आ जाएँ तो उन्हें अपने ही अनुयायियों के हाथों फिर कष्ट सहने पड़ेंगे और दुबारा क्रास पर चढ़ना पड़ेगा।

किर्केगार्ड के अनुसार ईसाई होने का अर्थ है सदा कष्ट सहन करना, मानवता की सेवा करना और ईश्वर का चिन्तन करना। उसने कहा कि अब यूरोप के ईसाई नाम मात्र को ईसाई रह गए हैं, इसलिए ईसाइयत खत्म हो चुकी है। उसकी पुनः प्रतिष्ठा की जानी चाहिए और सभी व्यक्तियों को ईश्वर के समीप पहुँचने को प्रेरित किया जाना चाहिए। ईश्वर का यह सान्निध्य किर्केगार्ड के जीवन-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इसकी तुलना वह प्रेमियों के मिलन के अनुभव से करता था। यहाँ सहसा ही भारतीय भक्तिवाद के भक्त और भगवान् तथा उनके विविध प्रकार के सम्बन्धों का स्मरण हो आता है, जिनमें प्रेमी-प्रेमिका का मिलन भी एक है। अपने को पापी मानकर नम्र भाव से ईश्वर के सामने समर्पित होने का विचार भी इसी भक्ति का अंग है। किर्केगार्ड चाहता तो अपना सम्प्रदाय ही चला सकता था, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उसने ईसाई धर्म के नेताओं का विरोध कर अपने विचारों को प्रस्तुत किया और इसी में अपने कार्य को पूर्ण हुआ माना। मिन्स्टर का विरोध तो उसने किया ही, जो वैसे बड़ा सीधा और सज्जन व्यक्ति था, अपने भाई पीडर को भी, जो आलबर्ग में पादरी था, नहीं छोड़ा। प्रोफेसर नीलसन नामक एक विद्वान् की भी, जो पहले उसका घनिष्ट मित्र था, उसने बड़ी धज्जियाँ उड़ाईं। उसे शक था कि नीलसन अपनी रचनाओं में उसके विचारों का उपयोग करता है। इस तरह संसार और जीवन में वह नितान्त अकेला रह गया और ईसा की ही तरह अकेलेपन के कष्ट सहन करता रहा।

किर्केगार्ड कहता था कि राजनियन्त्रित चर्च की व्यवस्था में जो

क्योंकि पादरी बनने की शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे शिक्षा पूरी करने के बाद ईश्वर की तलाश नहीं करते, अच्छी नौकरी की तलाश करते हैं और पादरी बनकर भी सरकारी कर्मचारियों की सुरक्षा तथा सुविधाओं का भोग करते हैं। ईसा के असली अनुयायी तो सदा दुःख झेलते रहे, तख्तों पर चढ़ते रहे और भूखे नंगे जीवन बिताते रहे—उन्होंने वेतन नहीं लिया, सोने-चाँदी की पालकियों में सवारी नहीं की, राजा-महाराजाओं के बगल में नहीं बैठे। ईसा और सुकरात दोनों को जनता को शिक्षा देने का वेतन मिला—मौत। इसी कारण किर्केगार्ड ने खुद पादरी बनना अस्वीकार कर दिया, यद्यपि उसे बड़ी अच्छी जगह देने का वादा किया गया था।

बयालीस वर्ष की अल्पावस्था में किर्केगार्ड की मृत्यु हुई। नीत्शे की तरह वह भी एक दिन सड़क पर जाते हुए बेहोश होकर गिर पड़ा और उठाकर घर लाया गया। उसने पादरियों से संस्कार कराना अस्वीकार कर दिया और शून्य में ताकता हुआ अन्तिम निद्रा में सो गया। उसकी मृत्यु के बाद कोपेनहेगेन की जनता ने जैसे चैन की साँस ली और पुनः हँसी-खुशी अपने दैनिक कार्यों में लग गई। वह समय अभी आना था जब उसके दर्शन को समझा और आगे बढ़ाया जाता।

● ● ●

'अस्तित्व' तथा 'अस्तित्वपूर्ण' शब्दों का प्रयोग सर्वप्रथम किर्केगार्ड ने ही किया। डा. स्वेन्सन के शब्दों में, जिसने उसके ग्रन्थों का अंग्रजी अनुवाद किया है, यह दर्शन जगत् की एक महान् क्रांति थी। इसके द्वारा उसने सत्य की प्रकृति को जानने के प्रयत्नों में वस्तुपरक पद्धतियों के प्रयोग का तीव्र विरोध किया और आत्मपरक पद्धति के प्रयोग का समर्थन किया। सरल शब्दों में कहें तो उसने बुद्धि को बाहर देखने के बजाय भीतर की ओर उन्मुख किया। उसने कहा कि ईश्वर को तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता, अनुभव तथा साक्षात्कार द्वारा जाना जा सकता है। सत्य को जानने की चेष्टा बौद्धिक मनोरंजन के लिए न होकर वास्तविक उपलब्धि के लिए है। इसलिए सत्य वह है जो मुझे सन्तोष प्रदान करे, न कि वह जो दूसरों को सन्तोष दे। उसने कहा कि जिन अन्य व्यक्तियों के मत पर हम सत्य ज्ञान के लिए निर्भर करते हैं, उनमें परस्पर मतभेद भी हो सकता है, इसलिए अपने आन्तरिक ज्ञान से ही सत्य की अनुभूति करना चाहिए।

किर्केगार्ड की यह स्थिति मूलतः बुद्धिविरोधी है और ज्ञान सम्बन्धी भारतीय स्थिति के बहुत समीप है। इसके अतिरिक्त, दर्शन में किर्केगार्ड

की रुचि तात्विक कारणों से न होकर व्यावहारिक कारणों से है—वह उसी सीमा तक दर्शन की उपयोगिता स्वीकार करता है, जहाँ तक वह ईश्वर का साक्षात्कार करने तथा उस तक पहुँचने के मार्ग को जानने में सहायक है।

किर्केगार्ड कहा करता था, 'सुकरात की तरह मेरा काम है अपने को जानना।' बुद्धि को अन्तर्वर्ती करके हमें अपनी सत्ता का सीधा अनुभव करना चाहिए तथा अपने वस्तुपरक दृष्टिकोण और व्यवहार को पूर्णतः दबा देना चाहिए। यह आत्मपरक आन्तरिक सत्ता ही परम सत्य है। यह वह सत्ता है जो समग्र ज्ञान तथा क्रिया के पूर्व से ही विद्यमान है। इस सम्बन्ध में देकार्त के सुप्रसिद्ध वाक्य 'मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूँ' की आलोचना करते हुए किर्केगार्ड ने कहा, 'नहीं, मैं हूँ, इसलिए मैं सोचता हूँ।'

इस आत्मपरक सत्ता को ही किर्केगार्ड ने 'अस्तित्व' कहा है। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक ढंग का आत्मविश्लेषण नहीं है जिसमें विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों आदि का अध्ययन किया जाता है। किर्केगार्ड की आन्तरिकता और ज्यादा गहरी तथा गतिमती है। इसमें बाह्य वस्तुपरकता का नितान्त परित्याग करके अपनी आन्तरिक सत्ता की चेतना पर ध्यान केन्द्रित करना तथा उसे जगा कर उसके कार्यों की गति को बढ़ाना होता है। इस चेतना के कार्य मूलतः आध्यात्मिक हैं और मनुष्य को उसके जीवन का उद्देश्य प्राप्त करने में सहायता करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य के लिए उसकी अपनी सत्ता ही प्रमुख है, अन्य व्यक्तियों तथा समाज की सत्ता उसके लिए गौण है, क्योंकि उनकी सम्भावना ही हो सकती है, निश्चय नहीं हो सकता। न व्यक्ति को इस बात का निश्चय हो सकता है कि उसके कार्य अन्य व्यक्तियों को लाभ ही पहुँचाएँगे क्योंकि कार्यों के परिणामों पर उसका नियन्त्रण नहीं होता। अतः उसका मुख्य कर्त्तव्य उसका अपना ही—जिसका उसे पूर्ण निश्चय है और जिस पर उसे नियन्त्रण भी प्राप्त है—विकास करना है। इस दृष्टिकोण को स्वार्थी माना जा सकता है परन्तु किर्केगार्ड कहता है कि इस प्रकार अपना विकास करके ही व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों को भी इस ओर प्रेरित कर उन्हें लाभ पहुँचा सकता है। दूसरों को भी अपने समान ही अस्तित्ववान आत्मा समझना उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाना है।

अस्तित्ववादी रीति से अपना विकास करने के लिए किर्केगार्ड ने

बड़ी विशद पद्धति का वर्णन अपनी अनेक पुस्तकों में किया है और विकास की इस प्रक्रिया को अनेक श्रेणियों में बाँटा है। इस मार्ग का पहला कदम है अपने जीवन तथा उसके उद्देश्य के विषय में गहरी रुचि, गम्भीरता और उत्साह उत्पन्न करना और ऐसी स्थिति प्राप्त करना कि विचार का प्रत्येक विषय अनुभूत होता लगे। विचार की यह शैली वस्तुपरक विचार शैली से भिन्न होती है। इसे वह मृत्यु का उदाहरण देकर स्पष्ट करता है। मृत्यु सम्बन्धी वस्तुपरक विचार मे मृत्यु के विविध रूपों और परिणामों पर लेक्चर दिए जाते है परन्तु व्यक्तिपरक विचार में नाश को इस तरह अनुभव किया जाता है कि अपनी प्रत्येक इन्द्रिय और कर्म क्षीण होता सा लगे। अतः व्यक्तिपरक विचार एक तरह का कर्म ही बन जाता है। ऐसा होने पर ही उसे अस्तित्ववादी कहते है।

इसके बाद आता है ध्यान का आन्तरिक केन्द्रीकरण जिससे यह ज्ञान होता है कि सत्ता सांत और अनत दोनो ही है। मैं सांत हूँ, अपूर्ण हूँ, काल और देश में रहता हूँ, फिर भी मै पूर्णता, अमरता और अनंतता की आकांक्षा करता हूँ। यह आन्तरिक द्वैध और द्वन्द्व, यह ज्ञान कि मैं क्या हूँ और क्या हो सकता हूँ, मनुष्य में एक गहरी उदासी तथा व्यथा का भाव उत्पन्न करता है। इससे मुक्ति पाने के लिए ही वह वस्तुपरक चिन्तन तथा कला, साहित्य आदि की ओर प्रवृत्त होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाय कि कला, साहित्य आदि को किर्केगार्ड निकृष्ट कोटि का कार्य समझता है। इस तरह के सब कार्यों को वह 'सौंदर्यात्मक' कार्य की संज्ञा देता है तथा अपने अस्तित्व का ज्ञान और विकास करने के कार्य को वह 'नैतिक' काय की संज्ञा देता है, जो सौदर्यात्मक कार्य से उच्चतर है। परन्तु नैतिक से भी ऊपर की अवस्था है, जिसे वह 'धार्मिक' कहता है। इस अवस्था की प्राप्ति बिरलों को ही और वह भी कभी कभी ही होती है।

वह कहता है कि नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कला और साहित्य के प्रलोभनों पर रोक लगानी होगी, जो बहुत कठिन बात प्रतीत होती है। परन्तु व्यक्ति को इसका चयन करना ही होगा, यह अथवा वह (उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक का नाम भी यही है), दोनों को एक साथ प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

किर्केगार्ड कहता है कि यह चुनाव मनुष्य के लिए बड़ा कष्टकारक होता है। इससे उसे 'भय और कम्पन' उत्पन्न होता है तथा फिर होती है 'निराशा'। व्यक्ति अपने सीमित प्रयत्नों से इस निराशा को काढ नहीं

सकता और उसकी यह स्थिति असह्य होती है। असहायता तथा दुःख की इस अवस्था में ही व्यक्ति आन्तरिक रूप से अस्तित्ववादी छलांग लगाकर 'निष्ठा' को छू और प्राप्त कर लेता है। 'निष्ठा' वह विश्वास है जिससे मनुष्य यह मान लेता है कि अनंत को प्राप्त करने की उसकी इच्छा को अनंत ही पूर्ण करेगा।

अब आती है 'धार्मिक' अवस्था। इस अवस्था में मनुष्य को ईश्वर की सहायता प्राप्त होती है क्योंकि उसका विश्वास पूर्ण होता है। किर्कगार्ड कहता है कि निराशा से विश्वास उत्पन्न होता ही है—विश्वास निराशा की अस्तित्ववादो परिणति है जिसमें मनुष्य आन्तरिक रूप से सहायता के स्रोत की कामना करके उसे पा लेता है। अब वह ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है परन्तु स्थायी रूप से उस स्थिति में रहना सम्भव नहीं है। इसका कारण किर्कगार्ड यह बताता है कि जीवन को न्यूनतम रूप से चलाने के लिए भी मनुष्य को कुछ न कुछ बाह्य काम-धाम करना ही पड़ता है, और उस समय वह ईश्वर से अलग हो जाता है।

परन्तु इस कारण उसमें अपराध की भावना उत्पन्न हो जाती है और कोई भी मनुष्य इससे मुक्त नहीं हो सकता। इससे भी मनुष्य को बड़ो निराशा होती है और इस पागलपन में कुछ लोग सब कुछ त्यागकर साधु बन जाते हैं, कुछ आत्मपीड़ा का मार्ग अपनाते है। पर इससे समस्या हल नहीं होती। बाह्य धार्मिकता के कारण व्यक्ति की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट होता है जिससे उसमें घमण्ड आ जाता है। इसका उपाय यही है कि मनुष्य आन्तरिक रूप से अपना अपराध निरन्तर स्वीकृत करता चले और उसके लिए निरन्तर क्षमा मांगता रहे।

• इससे स्पष्ट है कि किर्कगार्ड शुद्धतम धार्मिकतावादी दार्शनिक है। यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है। क्या निराशा और अपराध की भावना बनाए रखना ही 'परम सुख' का अस्तित्ववादी उद्देश्य प्राप्त करना है? इसका उत्तर देते हुए किर्कगार्ड कहता है कि 'धार्मिक क्षेत्र में स्वीकारात्मकता का बोध नकारात्मकता से होता है, जैसे छाया से उसके पीछे प्रकाश का निश्चय होता है। अतः अपराध के निरन्तर स्मरण से व्यक्ति परमसुख से सम्बन्धित रहता है।'

● ● ●

ईश्वर-प्राप्ति का यह दर्शन कुछ बड़ा अजीब सा लगता है। इसके कई पक्षों का बड़ी सरलता से खण्डन भी किया जा सकता है तथा उसकी

हास्यास्पदता व्यक्त की जा सकती है। परन्तु इसमें सत्ता का प्रश्न जिस नए ढंग से प्रस्तुत किया गया है, वह दर्शन को किर्केगार्ड का योगदान है, जिसे १०० साल बाद अब यूरोप के दार्शनिक स्वीकार और विकसित कर रहे हैं। मनुष्य की व्यथा को केन्द्रीय महत्त्व देने के कारण तथा उसे नष्ट करने का उपाय ढूंढने की चेष्टा के कारण भी—भले ही इस चेष्टा में एक नए ढंग का अपराध और दुःख निमन्त्रित कर लिया हो—किर्केगार्ड आधुनिकता के समीप है। फिर भी सार्त्र, कामू आदि से उसकी कोई गहरी समानता नहीं प्रतीत होती क्योंकि एक तो इन लोगों ने ईश्वर का ही परित्याग कर दिया, दूसरे विश्व की समस्याओं को उन्होंने व्यापक, सामाजिक और राजनीतिक धरातल पर ग्रहण किया। वैसे निराशा तथा व्यर्थता के भाव सार्त्र और कामू दोनों के नायक, भिन्न स्थितियों में, व्यक्त करते हैं।

स्वयं अपने ही विवेचन के अनुसार किर्केगार्ड 'सौन्दर्यात्मक' स्थिति को पूरी तरह कभी नहीं छोड़ सका, क्योंकि उसकी वृत्तियों में बड़ी समर्थ साहित्यिकता और काव्यात्मकता है। इससे अगली 'नैतिक' स्थिति को प्राप्त करने का वह निरन्तर प्रयत्न करता रहा, इसमें सन्देह नहीं। उसने जगह जगह कहा है, 'अपने भीतर मैं सदा रोता ही रहता हूँ।' परन्तु अन्तिम 'धार्मिक' स्थिति उसे कितनी प्राप्त हुई, इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। पर चूंकि यह स्वीकारात्मक प्राप्ति की स्थिति है ही नहीं, नकारात्मक प्राप्ति ही इसकी अन्तिम उपलब्धि है, इसलिए यह स्थिति भी इसे बहुत कुछ प्राप्त हो गई होगी, यह कहा जा सकता है। परन्तु व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के लिए इस सब का लाभ क्या हुआ, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। और शायद इसका कोई उत्तर नहीं है क्योंकि कोई भी बाह्य लाभ इसका उद्देश्य ही नहीं रहा। फिर यह सब आखिर है क्या? गहरी आन्तरिक निराशा और दुःख ही इसका आदि, मध्य और अन्त है। दुःख की समस्या का हल भी दुःख ही है और उसका माग भी दुःख से होकर ही है। इससे क्या यह प्रकट नहीं होता कि समस्या का हल करने की चेष्टा में कहीं कोई मौलिक भूल हो गई है? शायद यह भूल तर्क का बहिष्कार करने की ही रही हो। 'अस्तित्ववादी छलांग' लगाकर विश्वास के स्रोत तक जा पहुँचना क्या हास्यास्पद बात नहीं है? तर्क, विज्ञान तथा दर्शन के, अल्पविश्वसनीय ही सही, दान को छोड़कर श्रद्धा के इस गहरे अँधेरे कूप में डुबकी लगाना या तो पागल

पसन्द करेगा, या मूर्ख। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि वास्तविक जीवन की अपराध तथा पाप भावनाओं से बुरी तरह पीड़ित रहकर भी किर्कगार्ड ने इस पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया, उसे अधिकाधिक बलपूर्वक तथा नए नए रूपों में गले से ही लगाता रहा।

जो हो, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से यूरोप में उसका पुनरोदय आरम्भ हो गया। उसकी कृतियों का फ्रेंच में अनुवाद हेनरी डीलाक्रोज़ ने किया और जर्मन में क्रिस्तॉफ़ श्रेंफ ने। अंग्रेजी में इसका अनुवाद बहुत देर से, १९३८ के लगभग, आरम्भ हुआ। तब तक यूरोप का संकट बहुत बढ़ चुका था और प्रत्येक व्यक्ति बड़ी तीव्रता से चारो तरफ छाए नाश का अनुभव करने लगा था। अतः यह स्वाभाविक था कि विचारक अन्तर्मुखी होकर जीवन तथा अस्तित्व की समस्याओं पर गहराई से विचार करें और उसे दूर करने के उद्योग में लगें। चूंकि इस दिशा में पहले ही किया गया कुछ विचार विद्यमान था, इसलिए नए विचारकों ने उसे ध्यान से पढ़ा और उसमें से जो भी ग्रहण करना सम्भव था, उसे ग्रहण किया। प्रत्येक ने उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया और उसके अलग-अलग पक्षों का विकास और विश्लेषण किया। इस तरह मनुष्य तथा उसकी गहरी समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और विचार की एक नई परम्परा, नई शैली ने जन्म लिया। ●

मार्क्स
१८१८–१८८३

●

मनुष्य के जीवन तथा इतिहास की धारा को मार्क्स से अधिक सम्भवतः किसी अन्य विचारक ने प्रभावित नहीं किया। उसके द्वन्द्वात्मक या ऐतिहासिक भौतिकवाद का ही यह करिश्मा हुआ कि रूस में आर्थिक क्रांति हुई, जो फिर चीन तथा कुछ अन्य देशों में भी फैली, और मनुष्य ने मनुष्य के जीवन को योजनानुसार बदलने का सुगठित प्रयत्न किया। भले ही इस प्रयत्न में बड़ी कठोरता बरती गई हो जिसके फलस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण दुष्परिणाम भी प्रकट हुए हों, परन्तु बहुत अंशों में यह, अपनी दृष्टि से, सफल भी रहा है और आज संसार की दो महाशक्तियों में से एक है।

व्यावहारिक पक्ष की प्रबलता और सफलता के कारण मार्क्स का दार्शनिक रूप अक्सर छिप जाता है और उसका अर्थशास्त्रीय, राजनीतिशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय रूप ही आँखों के सामने शेष रहता है। परन्तु सच यह है कि उसका अर्थशास्त्र, राजनीति और समाजशास्त्र सभी उसके दर्शन पर ही टिके हैं जिसकी नींव उसने अपने मित्र एंगिल्स के साथ मिलकर डाली। यह भी सच है कि मार्क्स का क्रान्तिकारी अर्थाधारित दर्शन हवाई बातों का चिन्तन करते रहने वाले दार्शनिकों को बहुत महत्त्व भी नहीं देता। वह उन्हें कल्पना क्षेत्र में कसरत करने वाला मानता है। इसलिए मार्क्स को इस कोटि का दार्शनिक न मानकर व्यवहारवादी दार्शनिक मानना उचित है जिसने अपने थोड़े से चिन्तन का ज्यादा से ज्यादा उपयोग करने का प्रयत्न किया।

मार्क्स का दर्शन यह मानता है कि मनुष्य के जीवन का सब कुछ प्रकृति पर निर्भर है, उसी की देन है। प्रकृति मनुष्य के लिए जो भी खाना कपड़ा उत्पन्न करती है, उसी पर उसका समाज बनता और चलता है, अर्थ और राजनीति की व्यवस्थाएँ खड़ी होती हैं। यह क्रम और संघर्ष, एक निश्चित ढंग से, निरन्तर चल रहा है और अभी वह समय नहीं आया है, जब मनुष्य मामूली तौर से भी सुखी हो सका हो। इसलिए दर्शन का भी कर्त्तव्य उसके दैनिक सुख और लाभ का विचार करना ही होना चाहिए, ईश्वर, आत्मा आदि निरर्थक बातों पर सिर खपाना नहीं। मार्क्स का मत है कि धर्म ने मनुष्य के दुःखों को बढ़ाया ही है, घटाया नहीं है, क्योंकि वह उन सुखी व्यक्तियों का स्वार्थपूर्ण संगठन है जो ईश्वर, भाग्य, स्वर्ग, नर्क आदि बातों की अफीम खिलाकर संसार की भूखी नंगी जनता को बहकाये रखना चाहते हैं।

इसलिए मार्क्स के दर्शन को मोटे तौर पर समाजवाद के नाम से जाना जाता है। उससे पहले भी अनेक समाजवादी हुए परन्तु उनका समाजवाद कल्पना की सीमाओं से आगे नहीं बढ़ सका और न उनको कोई दार्शनिक आधार ही प्राप्त हुआ। मार्क्स पहला व्यक्ति था जिसने समाजवाद को दार्शनिक आधार दिया और यह कहा कि समाजवाद आवश्यक ही नहीं, इतिहास के विकास-क्रम में अनिवार्य है, किसी न किसी दिन वह प्रकट होकर रहेगा।

ऐसा मार्क्स ने किस आधार पर कहा? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मानव-इतिहास की व्याख्या करके। उसने मानव-इतिहास को छः युगों में विभक्त किया। उसने कहा कि अत्यन्त प्राचीन काल का मनुष्य साम्यवादी संघों में रहता था। तब प्रत्येक वस्तु के उत्पादन तथा वितरण का ढंग साम्यवादी था। यह पहला युग था। इसके बाद दासता का दूसरा युग आया जिसमें कृषि तथा गोपालन आदि के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हुआ और सम्पत्तिशालियों ने सम्पत्तिहीनों को अपना दास बनाया। तीसरा युग सामन्तवाद का था जिसमे सामन्त ही भूमि के स्वामी होते थे और किसान उनके अधीन काम करते थे। इन किसानों की स्थिति दासों से अच्छी होती थी। फिर चौथा युग पूंजीवाद का आया जो वर्तमान युग भी है। व्यवसायिक क्रांति तथा कल-कारखानों के परिणामस्वरूप यह युग उत्पन्न हुआ। इसमें पूंजीपति ही धन, राज्य तथा समाज का स्वामी होता है और मजदूर वेतन से अपनी गुजर करता है।

इसके बाद पाँचवाँ युग ऐसा आएगा जिसमें क्रांति के द्वारा मजदूरों का शासन स्थापित होगा तथा पूंजीवाद का तख्ता उलट जाएगा। इसमें शोषण-हीन तथा समानतावादी व्यवस्था स्थापित होगी और यह समाजवादी युग कहलाएगा। परन्तु यह युग अन्तिम नहीं होगा क्योंकि इसका भी संशोधन होगा और इसके बाद जो छठा युग आएगा उसमें मनुष्य को वास्तविक स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त होगी। आर्थिक साधनों का समवितरण हो जाने से इसमें राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहेगी और वह सूखी पत्तियों की तरह झड़ जाएगा। इसे साम्यवाद का युग कहा जाएगा जो समाजवाद का विकसित रूप होगा। यह अन्तिम युग होगा और इसे स्वर्ण युग माना जाएगा।

इतिहास की यह व्याख्या उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर की जिसके अनुसार प्रकृति की हर वस्तु सदा द्वन्द्वयुद्ध करती रहती है। इस द्वन्द्व के कारण ही उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। पुरानी वस्तुएँ नष्ट होती तथा नई बनती रहती हैं। अब चूंकि मानव जाति और समाज भी प्रकृति का ही भाग है, इसलिए उसमें भी द्वन्द्व चलता रहता है जो वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। वर्ग सदा दो होते हैं: सम्पत्तिशालियों का वर्ग और सम्पत्तिहीनों का वर्ग। वर्गों का अस्तित्व उत्पादन व्यवस्था के अनुरूप होता है जैसे कृषि के दिनों में सामन्त और किसान के वर्ग थे, और कारखानों के दिनों में पूंजीपति तथा मजदूर के वर्ग हो गए। यह वर्ग-संघर्ष सदा चलता रहता है और सम्पत्तिहीनों के अधिनायकत्व का रास्ता साफ़ करता रहता है। फिर एक दिन आता है जब परिवर्तन होता है तथा समानता स्थापित हो जाती है और ये वर्ग नहीं रहते।

● ● ●

द्वन्द्ववाद का यह सिद्धान्त मार्क्स का अपना नहीं है, हीगेल का है। परन्तु उनमें एक अन्तर यह है कि हीगेल जहाँ अध्यात्मवादी है, वहाँ मार्क्स भौतिकवादी है। तात्पर्य यह कि हीगेल के अनुसार अन्तिम सत्य जहाँ विचारतत्त्व है, वहाँ मार्क्स के अनुसार अन्तिम सत्य भौतिकतत्त्व है। हीगेल ने कांट के विज्ञानवाद को चरम सीमा पर पहुँचाया था। उसने कहा कि वास्तविक जगत् का निर्माण चिन्तन-क्रिया की प्रेरक शक्ति द्वारा होता है। विचार ही संसार का निर्माण करता है, अतः विवेक ही परमसत्ता या परमतत्त्व है।

हीगेल का यह विचारतत्त्व ईश्वर का ही दूसरा नाम है। हीगेल को ईश्वर का मोह कांट, स्पिनोज़ा आदि सबसे अधिक था। उसने ईश्वर

को सिद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया और कहा कि विश्व का जीवन कोई नियमहीन अथवा असन्तुलित वस्तु नहीं है, इसके भीतर एक दिमाग़ काम कर रहा है जो इसे नियमों में ही नहीं बाँधता, गति भी देता है तथा आगे बढ़ाता है। संसार सदा बन रहा है। विकास निरन्तर होता रहता है और ईश्वर ही वह सनातन तत्त्व है जिसकी ओर विकास जा रहा है।

आत्मा के सम्बन्ध में हीगेल ने कहा कि ईश्वर ही प्राणियों के शरीर में आकर आत्मा बन जाता है। आत्मा के रूप में वह एक विशेष व्यक्तित्व बन जाता है। यह कार्य अनजाने ही होता है। चेतना भी उसी तत्त्व का विकास है, जिसका दूसरा रूप शरीर है। हम उन्हीं वस्तुओं को जान पाते हैं जिन्हें हम खुद बनाते या पैदा करते हैं। हमारे ज्ञान के विषय हमारे अपने ही निर्माण हैं।

अब द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त लें। यह प्रगति की कल्पना से निकलता है। हीगेल के अनुसार परमतत्त्व स्थिर नहीं है, गतिशील है। संसार क्षण क्षण बदल रहा है, और यह परिवर्तन पीछे से आगे या नीचे से ऊपर की ओर हो रहा है। यह विकास वस्तुओं की अपनी आन्तरिक रुचि का ही फल है। परन्तु यह विकास सीधे चलने जैसा नहीं है, यह दो वस्तुओं या स्थितियों के सघर्ष के द्वारा सम्पन्न होता है।

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु की विरोधी वस्तु अवश्य मौजूद है। यदि वस्तु को 'वाद' (Thesis) कहें तथा विरोधी वस्तु को 'प्रतिवाद' (Antithesis), तो इन दोनों के संघर्ष से एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होगी जिसे 'संवाद' (Synthesis) कह सकते हैं। 'संवाद' में 'वाद' और 'प्रतिवाद' दोनों की विशेषताओं का समन्वय होता है। समन्वय के साथ यह दोनों का अतिक्रमण भी करता है और एक नई वस्तु प्रदान करता है। परन्तु फिर यह 'संवाद' ही 'वाद' बन जाता है, और उससे सघर्ष करने के लिए कहीं से 'प्रतिवाद' भी आ जुटता है। फिर एक नया 'संवाद' उत्पन्न होता है जो पहले 'सवाद' से श्रेष्ठ होता है। इस तरह ससार चलता और प्रगति करता रहता है।

सामाजिक धरातल पर इस बात को यों लें कि जो शक्ति पहले संगठित हो जाती है, वह अपना एक कार्यक्रम प्रस्तुत करती है और उसके अनुसार समाज को चलाना चाहती है। इसको 'वाद' कहें। परन्तु यह कार्यक्रम प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल हो सकना सम्भव नहीं है, इसलिए उसके विरोध में भी एक कार्यक्रम बनने लगता है और समय पाकर सगठित हो

जाता है। यह हो गया 'प्रतिवाद'। अब इनमें द्वन्द्व या संघर्ष चलता है। तब कुछ लोग दोनों को अच्छी बातों को लेकर तथा परिस्थितियों के अनुसार कुछ नवीन को जोड़कर एक नए कार्यक्रम की रचना करके उसे संगठित कर लेते हैं, जो 'सवाद' हो जाता है। फिर कुछ दिन बाद जब इस 'सवाद' के भी विरोधी तत्त्व प्रकट हो जाते हैं, तब यह 'वाद' बन जाता है और 'प्रतिवाद' से संघर्ष करने लगता है। मनुष्य के इतिहास में यह सदा होता रहता है।

हीगेल कहता है कि अब तक के इतिहास में यह चक्र एक बार ही पूरा हुआ है। सबसे पहले कुटुम्ब हुआ जिसकी विशेषता प्रेम तथा आत्मत्याग थी। यह 'वाद' हुआ। इसके कुछ समय बाद समाज बना जिसकी विशेषता, कुटुम्ब के विपरीत, प्रतियोगिता और स्पर्धा थी। यह हुआ 'प्रतिवाद'। इन दोनों मे सघर्ष हुआ जिससे राज्य का जन्म हुआ जिसमें कुटुम्ब और समाज दोनों की विशेषताएँ सम्मिलित हैं तथा कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। यह हो गया 'संवाद'। तात्पर्य यह कि राज्य इन दोनों से ऊँची सस्था है। राज्य मानव प्रगति को चरम सीमा है। हीगेल ने उसे ईश्वर का रूप कहा है।

राज्य के अन्तर्गत भी हीगेल ने द्वन्द्ववाद को ढूँढा। उसने कहा कि पहले स्वेच्छाचारी राज्य था जिसके प्रतिवादस्वरूप लोकतन्त्र का उदय हुआ। इन दोनों के सघर्ष से संवादरूप संवैधानिक राजतन्त्र का जन्म हुआ। यही सर्वोत्तम राज्यतन्त्र है। संयोग की बात यह है कि हीगेल के समय में जर्मन राज्य भी ऐसा ही था। अपने युग के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक का समर्थन पाकर उसके अधिनायक हीगेल पर बड़े कृपालु रहते थे। इससे फ्रांस की तरह जर्मनी में क्रान्ति की आशंका कम होती थी। हीगेल युद्ध को भी आवश्यक मानता था और कहता था कि उससे देशभक्ति तथा राज्य-भक्ति की भावना को बल मिलता है। इससे नागरिकों के दुराचार का नाश होता है तथा नैतिकता का प्रसार होता है।

मार्क्स ने हीगेल के अध्यात्म को तो ठुकरा ही दिया, उसके द्वन्द्ववाद को भी भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया। गति या विकास के सम्बन्ध में पहली बात तो उसने यही कही कि वस्तु का परिवर्तन परिमाणात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitative) दोनों प्रकार का होता है। जैसे पानी को यदि गरम करें तो एक सोमा के बाद उसमें से भाप बनकर निकलने लगेगी, पानी के गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों

ही परिवर्तन सामने आ जाएँगे। इसी प्रकार यदि पानी को ठण्डा करते चलें तो एक सीमा के बाद वह बर्फ बन जाएगा। इसमें भी दोनों प्रकार के परिवर्तन स्पष्ट हैं।

एंगिल्स ने इस बात का उपयोग जीवविज्ञान, रसायनशास्त्र आदि में भी किया। उसने कहा कि जिस तरह पानी से भाप बनते समय या बर्फ बनते समय अचानक रूप-परिवर्तन हो जाता है, उसी तरह जैवी विकास भी अचानक ही प्रकट हो जाता है, जैसे क्रान्ति हो गई हो। तात्पर्य यह कि वृक्ष या पशु की कोई श्रेणी जब दूसरी अगली श्रेणी में बदलती है, तब पानी से भाप या बर्फ में अचानक बदल जाने के समान यह नया रूप भी अचानक प्रकट हो जाता है। उनके बीच की स्थितियाँ न प्राप्त होना—जैसे बन्दर और मनुष्य के बीच की 'मिसिंग लिंक'—आश्चर्य की बात नहीं है। प्रकृति का नियम ही यही है। इससे उसने एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में बदलने के लिए क्रान्ति की आवश्यकता का भी समर्थन किया।

द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में मार्क्स ने दूसरी बात यह भी कही कि द्वन्द्व की स्थिति प्रत्येक वस्तु के अपने भीतर ही छिपी होती है, जो समय पाकर प्रकट होती है। यह कहीं बाहर से नहीं आती।

मार्क्स ने उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों को इतिहास का आधार मानकर द्वन्द्ववाद की व्याख्या की। उसने कहा कि उत्पादन-शक्ति 'वाद' है और उत्पादन-सम्बन्ध 'प्रतिवाद'। इन दोनों के द्वन्द्व के फलस्वरूप नए समाज का जन्म होता है। उत्पादन-शक्ति की मुख्य विशेषता यह है कि वह सदा बदलती रहती है। इसका कारण यह है कि उत्पादन के साधनों में सदा प्रगति होती रहती है और विज्ञान नित नए साधनों को जुटाता रहता है। परन्तु उत्पादन-सम्बन्ध अर्थात् सामन्त और कृषक या पूंजीपति और मजदूर का सम्बन्ध इस गति से परिवर्तित नहीं होता, वह सदा स्थिर सा रहता है। इसलिए दोनों में संघर्ष होता है और नई समाज-व्यवस्था प्रकट होती है। एंगिल्स ने कहा है कि हीगेल का जो द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा था, उसे मार्क्स ने पैरों के बल खड़ा किया, अर्थात् उसे प्रतिक्रियावादी से क्रान्तिवादी बनाया।

● ● ●

इस प्रकार मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को प्रमाणित किया और उसे इतिहास का तथ्य मान लिया। उसने यह भी कहा कि ऐतिहासिक परिवर्तनों में

आर्थिक परिवर्तनों का निर्णयात्मक हाथ होता है। हर राजनीतिक परिवर्तन उसके पीछे के आर्थिक परिवर्तन की ओर संकेत करता है। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि यदि आर्थिक शक्तियों तथा उनके परिवर्तन के कारणों को समझ लिया जाय तो राजनीतिक तथा ऐतिहासिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ भी की जा सकती हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से ऐसी ही एक भविष्यवाणी करते हुए उसने कहा कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों के कारण शीघ्र ही उसमें क्रान्ति होगी और श्रमजीवियों का शासन स्थापित होगा।

पूंजीवाद का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने बताया कि इसमें उत्पादन के साधन थोड़े से पूंजीपतियों के हाथों में होते है। वे वस्तुएँ स्वयं नहीं बनाते। वस्तुएँ श्रमिक बनाते हैं और पूंजीपति का लाभ भी श्रमिक ही बनाते हैं। मान लो कि एक श्रमिक एक दिन में आठ घण्टे काम करके चार रुपये मूल्य की वस्तुएँ बनाता है और वेतन एक रुपया पाता है। तो आठ घण्टों में से केवल दो घण्टे वह अपने वेतन का मूल्य उत्पन्न करता है और शेष छः घण्टों में "अतिरिक्त मूल्य" (Surplus Value) उत्पन्न करता है जो तीन रुपये के बराबर है और जो पूरा का पूरा पूजीपति की जेब में चला जाता है। यह पूंजीपति का लाभ है जिसे वह बढ़ाना चाहता है और इसलिए वह सदा श्रमिक का वेतन घटाने की बात सोचता है, बढ़ाने की नहीं—यदि श्रमिक का वेतन ८ आने रह जाय तो पूंजीपति का लाभ ८ आना बढ़ जाएगा, परन्तु यदि श्रमिक का वेतन दो रुपया हो जाय तो पूंजीपति का लाभ एक रुपया घट जाएगा।

इसलिए मार्क्स कहता है कि पूजीपति श्रमिक को उतना ही वेतन देता है जिससे वह मर न सके और श्रमिक-सन्तान उत्पन्न करता रहे। पूंजीवाद में श्रमिक की दशा कभी सुधर नहीं पाती और यह पूंजीवाद का आन्तरिक विरोध है। नई अच्छी मशीनों से ज्यादा उत्पादन होता है और कम श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है जिससे बेकारी बढ़ती है। बेकारी बढ़ने से जनता की क्रयशक्ति घटती है। इधर बढ़े हुए उत्पादन के लिए देश के बाजार पर्याप्त नहीं होते, तो विदेशी बाजार ढूंढे जाते हैं जिससे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद उत्पन्न होता है। यदि नये बाजार न ढूँढे जाएँ तो कारखाने बन्द करने पड़ें। इसलिए यूरोप के पूंजीपतियों ने विश्व-विजय की और कहीं मूल निवासियों को पराजित करके ही शांत हो गए, जैसे भारत में, तो कहीं उनको मिटा ही दिया, जैसे अमेरिका और

आस्ट्रेलिया में। उन्होंने लोगों को अपनी मिलों के कपड़े पहनाए तथा और चीजें बेचीं। यही नहीं, उनके यहाँ से कच्चा माल लेकर वस्तुएँ बनाईं तथा फिर वे उनको ही बेच दीं। युद्ध भी इसी कारण हुए क्योंकि ब्रिटेन आदि देशों ने बाजार बना लिए, परन्तु जर्मनी, इटली आदि देश नहीं बना पाए। अब वे अपनी चीजें कहाँ बेचें ? इसलिए महायुद्ध हुए।

जब पूँजीवाद का यह आन्तरिक विरोध चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब क्रान्ति होती है। यह क्रान्ति श्रमिक करते हैं जो धीरे-धीरे संगठित होते रहते हैं। श्रमिकों की इस क्रान्ति में अर्थव्यवस्था के साथ राज्य-व्यवस्था का भी परिवर्तन होता है और इसकी विशेषता यह है कि इसके बाद समानता स्थापित हो जाएगी, श्रमिकों का राज्य होगा तथा पूँजीवाद के सब तत्त्व नष्ट कर दिए जाएँगे। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य के हाथों में चला जाएगा अर्थात् प्रकारान्तर से वे श्रमिकों के ही हो जाएँगे। इस समाज में सब को कार्य करना पड़ेगा और प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार काम तथा वेतन दिया जाएगा। शिक्षा अनिवार्य और मुफ्त होगी। यह समाज वर्गहीन होगा और इसमें कोई भूखा या नगा नहीं रहेगा।

सन् १९१७ में रूस की क्रान्ति लेनिन के नेतृत्व में हुई। फिर सन् १९४९ में माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन की क्रान्ति हुई। दोनों देशों में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई। मार्क्स की भविष्यवाणी सच तो हुई पर पूरी तरह नहीं क्योंकि कृषिप्रधान देशों में पहले क्रान्ति होने की बात उसने नहीं कही थी, उसने तो पूँजीवाद की चरम सीमा को पहुँचे हुए देशों में क्रान्ति होने की घोषणा की थी। जो हो, समाजवाद का विचार कार्यरूप में परिणत हो गया है और बड़ी प्रबलता से आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहा है।

● ● ●

विचार को प्रत्यक्ष कार्य में परिणत करने वाले इस महापुरुष का जन्म जर्मनी के एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। उसके पूर्वज यहूदी थे परन्तु उसके पिता ने मार्क्स के जन्म के तुरन्त पश्चात् धर्म-परिवर्तन कर लिया था। बड़े होने पर मार्क्स को बर्लिन तथा बॉन के विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने भेजा गया। यहां वह हीगेल को मानने वाले नव-युवकों के सम्पर्क में आया जो उस समय के जर्मन बुद्धिवादियों में सबसे आगे माने जाते थे। मार्क्स ने गहराई से हीगेल के दर्शन का अध्ययन किया परन्तु शीघ्र ही वह उसकी सीमाओं से असन्तुष्ट हो गया और उन्हें

तोड़कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करने लगा जिससे उसकी सब क्रियाशक्तियों को उचित अभिव्यक्ति प्राप्त हो सके।

परन्तु शीघ्र ही उसने अनुभव कर लिया कि जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों में शिक्षक बनकर कुछ भी करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसने पत्रकारिता का कार्य स्वीकार कर लिया। पत्रकार बनकर वह राजनीतिक कार्य भी कर सकता था। सच यह है कि इसके बाद जीवन भर उसने राजनीतिक कार्य कभी नहीं छोड़ा।

२४ वर्ष की अवस्था में उसने 'राइनिश् ज़ाइटुङ' नामक पत्रिका का सम्पादन आरम्भ किया। परन्तु सेंसर का नियन्त्रण इतना कड़ा था कि वह अपने विचारों का प्रतिपादन ही नहीं कर सकता था। इसलिए उसने यह कार्य छोड़ दिया और अब हीगेल के राज्य सम्बन्धी दर्शन की आलोचना लिखी जिसमें उसने हीगेलीय द्वन्द्ववाद को भौतिकवाद की दृष्टि से प्रथम बार प्रस्तुत किया।

प्रशियन सरकार उसे बहुत खतरनाक समझती थी जिसके कारण उसे देश छोड़ना पड़ा। पहले वह पेरिस गया और वहां से एक पत्रिका का सम्पादन आरम्भ किया परन्तु वह एक ही अंक के बाद बन्द हो गई। पर इसमें एक लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण था जिसमें मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्गसंघर्ष तथा क्रान्ति की व्याख्या की थी। इसमें उसने कहा है कि शीघ्र ही वह क्रान्ति होगी जिसका मस्तिष्क होगा दर्शन तथा हृदय होंगे श्रमिक। इस लेख में मार्क्स के यौवनोचित उत्साह की भी झाँकियां देखने को मिलती है।

प्रशियन सरकार ने यहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ा और वह उसे पेरिस से भी निर्वासित कराने में सफल हो गई। तब मार्क्स बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स चला गया। इस बीच उसने अपना एक महत्त्वपूर्ण मित्र बना लिया जो उसके अभिन्न सहायक तथा मित्र के रूप में सदा उसके साथ रहा। यह मित्र था एंगिल्स जो जर्मनी के एक धनी व्यवसायी कुटुम्ब से सम्बद्ध था और ब्रिटेन के मानचेस्टर नगर में रहता था। उसने मार्क्स को आर्थिक तथा वैचारिक दोनों प्रकार की सहायता देना आरम्भ किया। उसके अर्थशास्त्र विषयक विचार मार्क्स के विचारों से आश्चर्यजनक रूप में मिलते थे तथा मार्क्स ने उसका एक लेख अपनी पेरिस वाली पत्रिका में छापा था। इसके बाद एंगिल्स पेरिस आकर मार्क्स से मिला और दोनों का सहयोग आरम्भ हो गया। दोनों ने मिलकर जर्मन दर्शन पर एक आलोचना भी लिखी।

ब्रुसेल्स में भी मार्क्स ज्यादा समय टिक नहीं सका और कुछ दिन जर्मनी में रहकर वह लंदन चला गया जहां वह मृत्युपर्यन्त अर्थात् ३३ वर्ष के लगभग रहा।

सन् १८४८ में जर्मनी में एक छोटी सी क्रान्ति हुई जो सफल नहीं हो सकी। इसके लिए एंगिल्स के साथ मिलकर मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' लिखा जिसमें लंदन में बनी कम्युनिस्ट लीग के प्रोग्राम का विवरण था। लंदन में रहकर मार्क्स ने विधिपूर्वक अर्थशास्त्र, राजनीति आदि का अध्ययन किया और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। ब्रिटिश म्यूज़ियम की सहायता से उसने यह सब कार्य किया। वहाँ वह नियमित रूप से जाता था। पहले उसने 'अर्थशास्त्र की समीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें उसके भावी महान् ग्रन्थ 'कैपीटल' के बीज छिपे थे।

'कैपीटल' का पहला खण्ड उसके लंदन जाने के १७ साल बाद प्रकाशित हुआ। दो खण्ड उसकी मृत्यु के बाद एंगिल्स ने प्रकाशित किए। फिर एंगिल्स की भी मृत्यु के बाद उसका चौथा और अन्तिम खण्ड काट्स्की ने सम्पादित करके प्रकाशित किया जो खुद तीन भागों में छः साल तक प्रकाशित होता रहा। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ को प्रकाशित होने में ४३ साल लग गये।

मार्क्स का सम्पूर्ण जीवन गरीबी में ही बीता। कुछ तो अपने विचारों के कारण और कुछ अपनी खराब हस्तलिपि के कारण उसे कभी कोई ढंग का काम नहीं मिल सका। उसकी पत्नी के पास मायके का कुछ धन था जिससे उसका काम चलता रहा और एंगिल्स भी उसकी सहायता जब-तब करता ही रहता था। यदि ऐसा न होता तो शायद वह भूखों ही मर जाता।

अपनी इन परिस्थितियों के बावजूद वह ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें कह गया जिन्होंने यूरोप के बुद्धिजीवियों में अभूतपूर्व हलचल तथा सुखी समाज की आशा उत्पन्न कर दी। एंगिल्स के बाद उसका सूत्र लेनिन ने पकड़ लिया और असम्भव को सम्भव कर दिखाया। फिर तो यह आग सारे संसार में फैल गई और सभी विचारक, लेखक और कवि इसके पीछे पागल हो गए। यद्यपि शीघ्र ही इसके कुछ भीषण दुष्परिणाम भी प्रकट हो गए जिससे लोगों की आँखें खुलने लगीं, परन्तु वह आग अभी तक जल ही रही है, बुझी नहीं है। यह शायद इसलिए कि गरीबी और शोषण अभी संसार से जा नहीं रहा है। सम्भवतः उसे दूर करने का कोई और उपाय हो परन्तु इस समस्या की ओर आँख में उँगली डालकर ध्यान आकृष्ट कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य मार्क्स और एंगिल्स ने ही किया है। ●

स्पेंसर

१८२०–१९०३

●

किसी नितान्त अशिक्षित व्यक्ति के लिए अपनी शताब्दी का सबसे अग्रणी दार्शनिक बन जाना चमत्कार ही कहा जाएगा। अध्यापकों के परिवार में उत्पन्न होकर भी स्पेंसर चालीस वर्ष की आयु तक अशिक्षित ही रहा। अपने विषय में उसने लिखा है कि "न तो बचपन में और न यौवन में ही मैंने अंग्रेजी का एक भी सबक ढंग से सीखा और आज तक मुझे कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं हुई।" उसके सेक्रेटरी ने लिखा है कि उसने विज्ञान की कोई भी पुस्तक पूरी नहीं पढ़ी। दर्शन के ग्रन्थ उसे कठिन लगते थे, कांट को उसने दो-चार पृष्ठ पढ़कर ही मूर्ख घोषित कर दिया था।

परन्तु उसने ज्ञान-विज्ञान के प्रायः सभी विषयों—दर्शन, मनोविज्ञान, आचारशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, जीवशास्त्र, भौतिकी, रसायन-शास्त्र, खगोल आदि—पर ग्रन्थ लिखे और इन सब को संचालित करने तथा बाँधने वाला एक ऐसा सिद्धान्त खोज निकाला जिसने इस विविधांगी जीवन-प्रक्रिया को समझने में बहुत सरल कर दिया और एक तरह से उसके रहस्य को ही खोलकर सब के सामने रख दिया। उसके द्वारा बीस के लगभग ग्रन्थों, अर्थात् पास-पास छपे ६ हजार से अधिक पृष्ठों, में बड़ी व्यापकता से प्रतिपादित "विकास" के इस सिद्धान्त ने पश्चवर्ती समग्र चिन्तन तथा वैज्ञानिक शोधों का परिचालन किया है। दार्शनिक होने के बावजूद उसके लेखन में बड़ी स्पष्टता और रोचकता है। किसी अन्य दार्शनिक के ग्रन्थ संसार की इतनी अधिक भाषाओं में अनूदित नहीं हुए। प्रकाशन के कुछ ही वर्ष पश्चात् उसका पहला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने पाठ्यक्रम में रख लिया।

यहां एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। विकास के सिद्धान्त का जन्मदाता साधारणतया डार्विन को समझा जाता है और इसमें सन्देह नहीं कि जीवविज्ञान के क्षेत्र में विकास के प्रमाणों को जुटाकर उसने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु जहां तक सिद्धान्त को जन्म देने का प्रश्न है, यह श्रेय स्पेंसर को ही जाता है। डार्विन की 'ऑरिजिन ऑव स्पेशीज़' प्रकाशित होने से पूर्व अपने कई लेखों और पुस्तकों में वह इस सिद्धान्त को रख चुका था और उसे क्रमशः विकसित कर रहा था। 'स्ट्रगिल फार एक्ज़िस्टेंस' तथा 'सर्वाइवल ऑव दि फिटेस्ट' की बात वह बड़ी स्पष्टता से कह चुका था। डार्विन ने इसमें जो योगदान किया, वह था 'नेचुरल सेलेक्शन' के प्रक्रियापरक सिद्धान्त का, और इसको उसने जीव-जगत् में लागू होते हुए भी दिखाया। स्पेंसर ने विकास के सिद्धान्त को खगोल, जीवन, समाज, राजनीति, अर्थनीति आदि सभी में लागू किया और इस तरह अपने कार्य को बहुत विस्तृत कर दिया। इसी कार्य के लिए उसने एक पूरी ग्रन्थमाला लिखी और इसमें ३६ वर्ष लगा दिए। उसने विकास-सिद्धान्त के सहारे समग्र ज्ञान, विज्ञान और जीवन का समन्वय किया और इसी कारण उसका दर्शन 'समन्वयवादी दर्शन' के नाम से जाना जाता है।

स्पेंसर का विकासवाद लेमार्क के इस सिद्धान्त पर आधारित था कि जीव के उपलब्ध गुण उसकी सन्तति में जा सकते है। डार्विन के 'नैसर्गिक चुनाव' सिद्धान्त की उसने आलोचना की और उसके दोष दिखाए। परन्तु शीघ्र ही लेमार्क के सिद्धान्त की अपेक्षा डार्विन का सिद्धान्त अधिक शुद्ध प्रमाणित हुआ। स्वत: स्पेंसर ने भी अपने दर्शन की इस दुर्बलता को, कि विकास होता कैसे है, महसूस किया। इसलिए यह कहना उचित है कि जहां स्पेंसर ने विकासवाद को जन्म दिया और उसे जीवन के सभी क्षेत्रों पर लागू होता दिखाया, वहां डार्विन ने उसके मुख्य कारण की व्याख्या की तथा उसके मुख्य क्षेत्र, जीवविज्ञान, को लेकर उसमें होने वाले विकास को सप्रमाण सिद्ध किया।

● ● ●

बिना कुछ सीखे पढ़े ही इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले हरबर्ट स्पेंसर का जन्म १८२० में इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध डरबी नामक स्थान में हुआ था। उसके परिवार के सभी व्यक्ति स्वतन्त्र विचारक तथा परम्परा-विरोधी थे। बचपन में हरबर्ट का स्वास्थ्य खराब रहता था,

इसलिए पढ़ने के लिए उस पर जोर नहीं डाला गया। परन्तु १३ वर्ष की अवस्था में उसे अपने चाचा के पास भेजा गया जो अपनी कठोरता के लिए प्रसिद्ध थे। हरबर्ट सवा सौ मील पैदल चलकर घर भाग आया, परन्तु उसे चाचा के पास फिर जाना पड़ा। यहां वह तीन साल रहा और थोड़ा-बहुत पढ़ता-लिखता रहा। उसे कैम्ब्रिज भेजने का विचार भी किया गया, परन्तु चाचा ने कहा कि तुम विश्वविद्यालय की शिक्षा पाने के योग्य नहीं हो।

इसके बाद घर लौटकर साल भर तक वह बेकार घूमता-फिरता रहा। फिर कुछ दिन उसने एक स्कूल में मास्टरी की। तभी उसे बरमिंघम लंदन रेलवे पर, जो बन रही थी, रेजीडेंट इंजीनियर के मातहत काम करने का अवसर मिला, जिसे उसने तुरन्त स्वीकार कर लिया। यहां रहकर उसने सिविल इंजीनियरिंग की पत्रिकाओं के लिए लेख लिखे और इंजनों की रफ्तार जानने के लिए वेलोसीमीटर नामक एक छोटे-मोटे यन्त्र का आविष्कार कर डाला। इससे पता चलता है कि असामान्य कार्यों को करने में उसे अधिक रुचि थी।

आठ-दस साल तक वह इस काम में लगा रहा, फिर इससे ऊब गया। अब क्या किया जाए ? परन्तु इसी बीच वह संसार की सब चीजों का सूक्ष्म अध्ययन करता रहा था। उसकी जिज्ञासा बड़ी तीव्र थी और प्रत्यक्ष देखकर तथा जानकारों से पूछ-ताछ करके प्रत्येक नई वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लिया करता था। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी तथा हर चीज़ को वह बड़ी स्पष्टता से समझ लिया करता था। विकास का सिद्धान्त तब वातावरण में था यद्यपि कोई उसे पकड़ नहीं पाया था। कांट ने बन्दरों से मनुष्य बनने की सम्भावना प्रकट की थी, गेटे ने पौधों के रूप-परिवर्तन पर लिखा था, लेमार्क ने कहा था कि जीवों की जातियां सरल रूपों से, अपने पूर्ववर्तियों के गुण लेकर बढ़ती हैं।

स्पेंसर के मस्तिष्क में विकास का सिद्धान्त धीरे-धीरे पनपता रहा और एक दिन उसने महसूस किया कि यह तो सम्पूर्ण सृष्टि के भीतर कार्य करने वाला मौलिक सिद्धान्त है और इसकी सहायता से जीवन के समग्र कार्य-कलाप को स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे उसकी आँखें खुल गईं और वह सभी ज्ञान विज्ञानों में इसके आचरण का अध्ययन करने लगा। उसने सभी सम्भव उपायों से तथ्य एकत्रित किए—इस काम के लिए उसने तीन सेक्रेटरी भी नियुक्त किए—और उन पर अपने विचारों को परखा।

परन्तु उसकी यह परख वैज्ञानिक की परख नहीं थी, क्योंकि उसने प्रयोग कभी नहीं किए। डार्विन इसी में उससे बाजी मार ले गया और इसीलिए उसने जो बातें सामने रखीं, उनकी स्पेंसर को कल्पना भी नहीं हो सकी। इसी कारण डार्विन ने जहां थोड़े से क्षेत्र का गहरा अन्वेषण किया, वहां स्पेंसर बहुत से क्षेत्र का ऊपरी अध्ययन ही कर सका तथा उसकी बहुत सी बातें सामान्य से ऊपर नहीं उठ सकीं। परन्तु इसका कारण सम्भवतः यह है कि उसकी ट्रेनिंग ही वैज्ञानिक की नहीं थी, अपनी सीमाओं को देखते हुए उसने जो कुछ किया, वही बहुत था। उसने कार्पनिकस तथा न्यूटन की तरह युग-परिवर्तन कर दिया, कोलम्बस की तरह नया देश खोज निकाला—जिसे बसाने का काम दूसरों को करना था।

विचार करते रहने का फल यह हुआ कि वह पत्र-पत्रिकाओं में लिखता रहता था। २२ वर्ष की अवस्था में उसने शासकीय कार्यों के विषय में कुछ पत्र लिखे जिनमें स्वतन्त्रता नीति का प्रतिपादन किया गया था। फिर उसे 'इकॉनॉमिस्ट' में सह-सम्पादक का कार्य मिल गया। ३० वर्ष की अवस्था में उसने समाज-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी जिससे उसे अच्छी लोकप्रियता प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद उसने जनसंख्या के विषय पर एक लेख लिखा जिसमें उसने बताया कि "जीवित रहने के संघर्ष में योग्यतम ही विजयी होता है।" शीघ्र ही एक और लेख लिखकर उसने विकास के सिद्धान्त को स्पष्ट किया।

कुछ समय बाद उसने अपनी दूसरी पुस्तक लिखी जिसमें मस्तिष्क के विकास का प्रतिपादन किया गया है। निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी और इसने स्पेंसर को उस सीमा पर पहुँचा दिया, जहां वह अपने समय का प्रमुख दार्शनिक बन सकता था। डार्विन की 'ऑरिजिन ऑव स्पेशीज़' अभी तक प्रकाशित नहीं हुई थी। स्पेंसर ने महसूस किया कि वह विचार-जगत् में क्रान्ति ला सकता है। शीघ्र ही उसने एक योजना बनाई जिसमें कई खण्डों में विकास का पूर्ण विवेचन—जड़ पदार्थ से बुद्धि तक—करने की घोषणा की गई। परन्तु यह कार्य किया कैसे जाय? न तो उसके पास पैसा था और उसका स्वास्थ्य भी बेहद खराब रहता था। अवस्था भी उसकी चालीस की हो चुकी थी। उसने विवाह नहीं किया था, इसलिए उसे बोर्डिंग में रहना पड़ता था।

परन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी। उसने सोचा कि प्रस्तावित योजना के ग्राहक पहले से बनाकर काम शुरू किया जाय। एक रूपरेखा

तैयार करके उसने अपने मित्रों के पास भेजी। सबने उसे प्रोत्साहित किया और यूरोप तथा अमेरिका से ६०० के लगभग ग्राहक बना दिए। स्पेंसर ने काम शुरू कर दिया।

दो वर्ष बाद उसने 'फर्स्ट प्रिंसिपिल्स' नामक प्रथम खण्ड प्रकाशित किया जो शताब्दी के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में गिना जाता है। परन्तु इसे पढ़कर उसके ग्राहक भड़क गए और कई ने अपने नाम वापस ले लिए। इसमें धर्म तथा विज्ञान के पारस्परिक मिलन बिन्दु पर प्रकाश डाला गया था, जिससे दोनों पक्षों की अनेक बातों की आलोचना होती थी, इसलिए पादरी और वैज्ञानिक दोनों ही उससे नाराज़ हो उठे। वैसे भी स्पेंसर में खरी बात कहने की आदत थी, जो आजीवन उससे नहीं छूटी, और इससे वैचारिक रूप से उसके वक्तव्य को बल मिलता था, परन्तु उसके श्रोता खुश नहीं होते थे।

जो हो, इसका परिणाम यह हुआ कि विकास के सिद्धान्त पर जोरदार बहस चल निकली क्योंकि डार्विन की किताब भी इस बीच प्रकाशित हो चुकी थी। कुछ समय तक विकासवादियों की चारों तरफ से बड़ी छीछालेदर हुई और सार्वजनिक रूप से उनका अपमान किया जाता था। उन्हें अनैतिक तथा राक्षस कहा जाता था। इस समय तत्कालीन सुप्रसिद्ध शरीर-शास्त्री हक्सले ने विकासवाद के सेनापति का काम किया और डार्विन तथा स्पेंसर के प्रतिनिधि के रूप में सार्वजनिक मोर्चे को सँभाला। इन विवादों का ही परिणाम यह हुआ कि विकासवाद तेजी से जनता में फैलने लगा और शीघ्र ही उसके समर्थकों का भी एक दल खड़ा हो गया।

परन्तु ऐसा हो पाने में समय लगा और इस बीच स्पेंसर के ग्राहक इतने कम रह गए कि उसे प्रकाशन बन्द करने की घोषणा करनी पड़ी। पर तभी एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। जान स्टुअर्ट मिल ने, जिसका वैचारिक नेतृत्व स्पेंसर के कारण खतरे में पड़ गया था, एक पत्र लिखकर स्पेंसर से कहा कि वह अपनी योजना को जारी रखे, हानि की पूर्ति वह करता रहेगा। मिल ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह इसे व्यक्तिगत सहायता मानकर न ले, इसे सार्वजनिक लाभ के लिए ही पारस्परिक सहयोग के रूप में स्वीकार करे। मिल की इस अप्रत्याशित उदारता ने स्पेंसर के हृदय को छू लिया, परन्तु उसने बड़ी नम्रतापूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। मिल ने फिर अपने कई प्रभावशाली मित्रों से

सहायता दिलाने का प्रयत्न किया, परन्तु स्पेंसर ने इसे भी स्वीकार नहीं किया।

तब जैसे आसमान से सहायता टपकी और अमेरिका से स्पेंसर के प्रशंसकों ने लिखा कि उन्होंने इस योजना के लिए सात हजार डालर की सरकारी हुंडियां खरीद ली हैं, जिनका ब्याज उसे मिलता रहेगा। स्पेंसर ने इस बार इनकार नहीं किया और अपने काम में वह फिर मनोयोग से लग गया। कुछ समय बाद उसकी पुस्तकों के अनुवाद फ्रेंच, इटेलियन, जर्मन, रशियन, ग्रीक, अरबी, चीनी, जापानी आदि भाषाओं में होने लगे, जिससे उसकी आर्थिक स्थिति सुधर गई। परन्तु उसका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता चला गया। उसका स्नायु संस्थान बड़ा दुर्बल था जिसके कारण वह खुद लिख भी नहीं सकता था। उसे अपनी पुस्तकें ही नहीं, चिट्ठियां तक बोलकर लिखानी पड़ती थीं। यह भी वह घण्टे भर से ज्यादा नहीं कर सकता था, थोड़ी देर आराम करने के बाद ही वह पुनः लिखा पाता था। उसे बदहजमी, अनिद्रा आदि तो रहती ही थीं, तरह-तरह के भय भी सताते रहते थे। फिर भी वह चुपचाप अपने काम में लगा रहा और ७६ वर्ष की अवस्था में, जब वह नितान्त अशक्त हो चुका था, उसे खत्म करके ही चैन की साँस ली।

इसके बाद भी वह सात साल तक जीवित रहा। रोगों से घिरे रहकर भी जीवित रहने की उसकी शक्ति पर आश्चर्य होता है। परन्तु अब उसकी क्षीणता बढ़ती जा रही थी और जैसे वह धीरे-धीरे मृत्यु की ओर खिसकता जाता था। इन दिनों वह ब्राइटन में समुद्र के सामने एक घर लेकर रहता था। उसका सेक्रेटरी अमेरिका से लौटकर उससे मिला और अमेरिका में उसके बढ़ते हुए प्रभाव का वर्णन करने लगा। स्पेंसर चुपचाप सुनता रहा, फिर बोला—'मैं सन्तुष्ट हूँ, मैं सन्तुष्ट हूँ।'

उसकी मृत्यु बहुत शान्तिपूर्वक हुई। एक दिन शाम को वह धीरे-धीरे अचेत हो गया और रात भर इसी दशा में रहने के बाद प्रातःकाल अन्तिम निद्रा में सो गया।

● ● ●

स्पेंसर सांसारिक वस्तुओं को दो भागों में विभक्त करता है: (१) जिनको जाना नहीं जा सकता, और (२) जिनको जाना जा सकता है। पहली कोटि में वह एक ओर सृष्टि के मूलतत्त्व या ईश्वर को रखता है और दूसरी ओर पदार्थ, गति, देश, काल, तत्त्व आदि को रखता है। इस

तरह वह अनीश्वरवादी तो है ही, विज्ञान को भी कई वस्तुओं को वह न जानी जा सकने योग्य मानता है। फिर भी वह धर्म की अपेक्षा विज्ञान को अधिक उपयोगी मानता है क्योंकि विज्ञान के कारण जानी जा सकने योग्य वस्तुओं की शोध होती रहती है।

जानी न जा सकने योग्य वस्तुओं का विवेचन १०० पृष्ठों में करके वह तुरन्त जानी जा सकने योग्य वस्तुओं के क्षेत्र में आ जाता है और हजारों पृष्ठों में इनकी मीमांसा करता है। अब वह विकास सिद्धान्त की व्याख्या करता है और उसके माध्यम से दर्शन को पूर्णतः एकीकृत ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करता है।

स्पेंसर कहता है कि सब पदार्थों में एक अन्तर्निहित शक्ति होती है जो उन्हें आगे धकेलती रहती है। उसी के कारण विभिन्न वस्तुएँ पनपती है, फिर नष्ट हो जाती है। इस शक्ति का सिद्धान्त क्या है ? यह है विकास तथा ह्रास का सिद्धान्त। क्या है यह सिद्धान्त ? यह कि विकास वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनिश्चित तथा सरल पदार्थ निश्चित तथा जटिल पदार्थों में परिवर्तित होते है। कैसे ? जैसे कुहेलिकामय नीहारपुंज से ग्रहों और नक्षत्रों का निर्माण, पृथ्वी पर समुद्रों और पर्वतों की रचना, पेड़-पौदों में तत्त्वों का और मनुष्यों में पशुओं का रूप-परिवर्तन, भ्रूण में हृदय का विकास और जन्म के बाद हड्डियो का समेकन, संवेदनों का ज्ञान में तथा स्मृतियों का विचार में परिवर्तन और ज्ञान का विज्ञान तथा दर्शन में रूपान्तर।

यह तो हुई जड़ पदार्थ से बुद्धि के विकास तक की प्रक्रिया जिसमें क्रमशः खगोल, भौतिकी, रसायन, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान तथा मनोविज्ञान आ जाता है। इसके आगे स्पसर इसे समाज शास्त्र, राजनीति तथा अर्थशास्त्र पर भी लागू करता है और बताता है कि किस प्रकार आरम्भ में परिवार ही होते हैं और घूमते-फिरते रहकर अपना भोजन प्राप्त करते हैं और जीवन बिताते हैं। फिर वे आपस में मिलकर जातियाँ बना लेते है। सबल जातियाँ दुर्बल जातियों पर आक्रमण करके उन पर अधिकार कर लेती है और इस तरह अधिक व्यापक और स्थिर समाजों का निर्माण होता है। राज्य बनते है और फिर राज्यों के संघ बनते है। ये ही किसी दिन सम्पूर्ण विश्व के एक संघ में भी विकसित हो सकते है। विभिन्न उद्योग और व्यापार भी इसी तरह संघों में सगठित होते रहते हैं। स्पेंसर ने भाषा के क्षेत्र में भी विकास को लागू होता दिखाया।

इस समग्र व्यापार में दो-तीन चीजें दिखाई देती हैं। एक तो यह कि वस्तु अनिश्चित तथा असंगठित अवस्था से निश्चित तथा संगठित अवस्था को प्राप्त होती है। दूसरी यह कि परिवर्तन से पहले उसका रूप सरल होता है, फिर वह जटिल होता जाता है। इससे यह नियम भी निकलता है कि वस्तु जितनी ही जटिल हो, उतनी ही वह विकसित भी होगी, यद्यपि सभी क्षेत्रों में यह सच नहीं है। तीसरी यह कि जैसे जैसे यह संगठन बढ़ता है, वैसे वैसे उसके विभिन्न भागों की अपनी गति घटती जाती है—जैसे कुहेलिका से ग्रह बनने में ग्रहों की गति घट गई या जातियों के राज्य बनने मे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता कम हो गई। परन्तु इसी कारण उनकी एक दूसरे पर अधीनता बढ़ती है तथा सहयोगी भाव उत्पन्न होता है।

विकास की कल्पना पर पूरा प्रकाश डाल चुकने के बाद स्पेंसर ने ह्रास की कल्पना को प्रस्तुत किया। उसने कहा कि जो गति विकास को चलाती है, वह मंद होती जा रही है और एक दिन खत्म भी हो जाएगी। सूरज की गर्मी कम होते होते किसी दिन बिलकुल चुक जाएगी, मनुष्य का रक्त भी इसी तरह ठण्डा पड़ता जाएगा। तब ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन समाप्त हो जाएगा और नाश तथा मृत्यु चारों ओर दिखाई देंगे। विकास का चक्र पूरा हो जाएगा। यह चक्र कुछ समय बाद फिर शुरू होगा और आगे बढ़ेगा।

स्पेंसर भी शापेनहावर की तरह निराशावादी है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह मानव-जीवन को व्यर्थ मानने लगा था। उसने लोगों से मिलना-जुलना भी बन्द कर दिया था। जब रूस का ज़ार इंगलेण्ड आया, तब उसने वहाँ के प्रसिद्ध व्यक्तियों से मिलने की इच्छा प्रकट की। जो चुने हुए लोग बुलाए गए, उनमें स्पेंसर का नाम सबसे आगे था, परन्तु और सब गए, स्पेंसर नहीं गया। जब लोग जबरदस्ती उससे मिलने आते, तब वह कानों में डाट लगा लेता और बहरा होकर उनकी बातें सुनता रहता।

इस ग्रन्थमाला के दूसरे और तीसरे खण्डों में जीव-विज्ञान को लिया गया है, अगले दो में मनोविज्ञान को, फिर तीन में समाजशास्त्र को और अन्तिम दो में नीतिशास्त्र को। जीव-विज्ञान के विवेचन में स्पेंसर बताता है कि आन्तरिक सम्बन्धों का बाह्य सम्बन्धों से निरन्तर अनुकूलन ही जीवन है। वही जीवन पूर्ण है, जिसमें यह सम्बन्ध ठीक हो। जिस

तरह व्यक्ति प्रकृति और समाज से अनुकूलता स्थापित करता है, उसी तरह प्रजाति भी बाह्य परिस्थितियों से अनुकूलता स्थापित करने में लगी रहती है। यह भी कि मानसिक शक्तियों के विकास के साथ-साथ शारीरिक शक्तियों तथा प्रजनन-क्षमता का ह्रास होता है। बुद्धि का कार्य करने वालों के सन्तानें कम होती है। अतः भविष्य में बुद्धि विकास के साथ मनुष्य की प्रजनन शक्ति का घट जाना सम्भव है।

मनोविज्ञान सम्बन्धी स्पसर का विवेचन बहुत साधारण कोटि का है और उसमें तरह-तरह की थ्यूरियों की भरमार है जो कालान्तर में अस्वीकृत कर दी गई। फिर भी इस सब को पढ़कर यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि जड़ पदार्थ से मन तक विकास की धारा एक ही है, जो मोटे तौर से ठीक भी है।

समाजशास्त्र सम्बन्धी स्पेंसर का विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी मे उसका राजनीतिक दर्शन भी प्रकट होता है। वास्तव में स्पेसर ने ही विधिपूर्वक समाजशास्त्र की स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में स्थापना की। इतिहास के दर्शन के रूप में उसने समाज-शास्त्र को प्रस्तुत किया। उसने कहा कि घटनाओं का अध्ययन करने से उतना लाभ नहीं है, जितना कि उनकी प्रक्रिया तथा उनके भीतर कार्य करने वाले सिद्धान्तों का अध्ययन करने से।

स्पेंसर कहता है कि मनुष्य-शरीर की भाँति समाज का भी एक शरीर होता है, जिसमें खाने, पचाने, रक्त बनाने तथा प्रजनन करने की इन्द्रियाँ होती हैं। परन्तु जहाँ व्यक्ति में चेतना एक स्थान पर केन्द्रित रहती है, वहाँ समाज का चेतना उसके विभिन्न भागों में बंटी रहती है। हर भाग की इच्छाशक्ति भी स्वतन्त्र होती है। परन्तु शासन इस प्रवृत्ति को नियन्त्रित करता है। परिवार, कबाले, राज्य आदि में समाज का विकास होता है। धर्म का भी इसके साथ-साथ विकास होता जाता है। आरम्भ मे संसार के सभी भागो में तरह-तरह के देवी-देवताओं तथा शक्तियों की पूजा होती रही। फिर उनमे एक प्रमुख देवता या ईश्वर की स्थापना की गई। उसकी पूजा की गई तथा उसस जीवन की आवश्यक वस्तुएँ मांगी गई।

स्पेंसर ने यह भी कहा कि ऐसे अलौकिक धर्म सैनिक समाजों के सहगामी है। जैसे जैसे सैनिक समाजों का परिवर्तन औद्योगिक समाजों में होता जाता है—जो वर्तमान इतिहास की प्रमुख विशेषता है—वैसे वैसे

ऐसे धर्मों की जड़ उखड़ती जा रही है। युद्ध के स्थान पर निर्माण होने लगना जीवन के प्रति ग्रास्था उत्पन्न होने का चिह्न है, ग्रौर ग्रलौकिक धर्म जीवन के भय से ही उत्पन्न होते हैं। युद्ध मात्र को समाप्ति को स्पेंसर सामाजिक उन्नति के लिए ग्रावश्यक मानता है। उद्योगों के विकास में ही लोकतन्त्र ग्रौर शान्ति होती है।

परन्तु स्पेंसर समाजवाद को भी सैनिक राज्य का परिणाम मानता है, ग्रौद्योगिक लोकतन्त्री राज्य का नहीं। ग्रांशिक रूप में ग्रब यह सही भी सिद्ध हो रहा है। परन्तु इस कारण ग्रपने समय में स्पेंसर का बहुत विरोध हुग्रा ग्रौर उसकी लोकप्रियता कम हो गई।

स्पसर का ग्राचार-शास्त्र उसके जीव-विज्ञान पर खड़ा है। उसने बलपूर्वक कहा कि वही ग्राचार श्रेष्ठ है जो प्राकृतिक नियमों के ग्रनुकूल हो ग्रौर इस तरह जो जीवन के विस्तार, गहराई तथा पूर्णता को ग्रधिकाधिक बढ़ाए। यह एक नई बात थी। इसके विरोध में कहा गया कि ऐसो ग्रवस्था में तो प्रेम ग्रौर न्याय के स्थान पर क्रूरता ग्रौर चतुराई का बोलबाला हो जाएगा। स्पसर ने उत्तर में कहा कि होता भी यही है, प्रेम ग्रौर न्याय की दुहाई सभी देते है, पालन कौन करता है? इसका कारण यही है कि प्रकृति से हम बच नहीं सकते। इसलिए हवाई ग्राधार न लेकर वास्तविकता पर ग्रच्छो इमारत बनानो चाहिए। स्पेंसर ने न्याय का यह सिद्धान्त निश्चित किया: 'प्रत्येक मनुष्य ग्रपनी इच्छा के ग्रनुसार व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र है परन्तु उसे वही स्वतन्त्रता दूसरों को भी देनी चाहिए।' उसने जीवन, स्वतन्त्रता ग्रौर प्रसन्नता की खोज को मनुष्य के मौलिक ग्रधिकार घोषित किया है।

यह है संक्षेप में मानवी चिन्ता को स्पेंसर का योगदान। उसने दर्शन को यथार्थ से जोड़ दिया ग्रौर उसके सामने जर्मनी के हवाई बातें करने वाले दार्शनिक सहसा बड़े दुर्बल प्रतीत होने लगे। उसने ग्रपने युग को ग्रौर उसके सम्पूर्ण योगदान को समन्वित तथा एक करके मानवता के थाल में परोस दिया। ●

नीत्शे

१८४४–१९००

●

नीत्शे को हिटलर का पिता और नेपोलियन का पुत्र कह सकते हैं। उसने 'सुपरमैन' की जो कल्पना प्रस्तुत की, उसे विकसित करने में नेपोलियन का आदर्श प्रयुक्त हुआ, तथा फिर उसके आधार पर हिटलर का व्यक्तित्व निर्मित हुआ। बाद में नीत्शे की बहिन द्वारा स्थापित नीत्शे-संग्रहालय में हिटलर अक्सर जाया भी करता था। वैसे इससे बहुत पहले ही नीत्शे का साहित्य और दर्शन जर्मनो में बहुत लोकप्रिय हो चुका था। प्रथम महायुद्ध में हजारों जर्मन सैनिक नीत्शे की मुख्य पुस्तक, 'दस स्पेक ज़रथुस्त्र'—जिसमें उसने लौह-सदृश कठोर महामानव की अपनी कल्पना को प्रस्तुत किया है—लड़ाइयों में अपने साथ लिए फिरते थे। तानाशाही शासन की कल्पना भी इसी से उत्पन्न हुई और बढ़ी तथा नाजी दल की जड़ों में भी यही विचारधारा थी। इटली के मुसोलिनी को भी इसी श्रेणो के अन्तर्गत लिया जा सकता है। नीत्शे की बहिन, एलिज़ाबेथ ने मुसोलिनी की पचासवीं वर्षगाँठ पर उसे 'ज़रथुस्त्र का सर्वोत्तम शिष्य' घोषित किया था।

मार्क्स की तरह नीत्शे यूरोप का ऐसा विचारक है, जिसके विचारों को क्रियान्वित होते देर नहीं लगी और जिसके कारण संसार को एक भयंकर तूफ़ान का सामना करना पड़ा। परन्तु मार्क्स के विपरीत नीत्शे के विचारों ने संसार का हित उतना नहीं किया, जितना अहित, और जिसके लिए वह खुद पूरी तरह से जिम्मेवार है। परन्तु यदि उसके जीवन तथा परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय, तो पता चलता है कि उसके विचारों के हानिकर पहलू उसके पागलपन तथा रोगों के कारण ही उत्पन्न हुए, अन्यथा उसकी बातों में आंशिक सत्य अवश्य है। उसकी व्यक्तिगत

आकांक्षाओं, दुर्बलताओं तथा शारीरिक परवशताओं का ही परिणाम यह हुआ कि उसकी रचनाएँ सन्तुलित न होकर अतिरंजन से भर उठीं और उनमें विचारपूर्ण निबन्धों के स्थान पर चमत्कारपूर्ण सूत्रों तथा कविताओं की भरमार हो गई। इसलिए उसे दार्शनिक न मानकर नबी और प्रचारक मानना ही ज्यादा उचित है। वास्तव में उसने ऐसी अनेक बातें कहीं जो कालान्तर में सत्य सिद्ध हुईं। जैसे उसका यह कथन कि पचास साल में ही यूरोप के लोकतन्त्री राज्य घोरतम युद्धों में संलग्न हो जाएँगे, या यह कि शीघ्र ही रूस इस तेजी से संसार पर छा जाएगा कि लोग आश्चर्य करेंगे।

अपने इस पागलपन में नीत्शे ने कुछ बातें ऐसी भी कहीं जिनको अब नए दार्शनिकों द्वारा विकसित किया जा रहा है। जैसे उसका यह कथन कि 'ईश्वर मर चुका', आज की अस्तित्ववादी धाराओं के मूल को सींच रहा है। नीत्शे ने ईसाई धर्म तथा समस्त प्रचलित नैतिकता के परखचे उडा दिए और एक नितान्त नूतन धम तथा देवता का निर्माण किया। विश्व के इतिहास में उसने पहली बार अदम्य साहस से घोषित किया कि एक दूसरे के सहयोग और प्यार पर समाज को चलाना गलत है, पारस्परिक संघर्ष से ही भविष्य के महाद्वार खोले जा सकते हैं। उसने कहा कि जनता की कोई कीमत नहीं है, कीमत उस महामानव की है जो इनके सर पर पैर रखकर खड़ा होता है और लाखों में एक होता है। उसने कहा कि यह प्रकृति का ही खेल है कि बहुत से एक महान् को उत्पन्न करने का माध्यम बनते हैं और इस प्रक्रिया में स्वयं नष्ट होते चले जाते हैं। इसलिए लोकतन्त्र गलत है, करुणा और प्रेमवादी ईसाई तथा बौद्ध धर्म गलत हैं, शान्ति तथा सुरक्षा गलत है। वही शासन और धर्म ठीक है जिसमें महामानव उत्पन्न होते रहें और कदम-कदम पर युद्ध करते हुए आगे बढ़ते रहें।

● ● ●

ऐसे निषेध और नाशवादी दर्शन का जन्मदाता नीत्शे परम्पराप्रिय पादरियों के परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता प्रशिया के राजा के परिवार में शिक्षक थे और जिस दिन नीत्शे का जन्म हुआ, उसी दिन राजा की भी वर्षगाँठ थी, इसलिए पिता ने राजा के नाम पर नीत्शे का नाम भी फ्रेडरिक रख दिया। फ्रेडरिक पाँच साल का भी न होने पाया था कि पिता का देहान्त हो गया और दादी, माँ तथा चाचियों ने घर के इस अकेले बालक

की देखभाल शुरू की। स्वाभावतः उसे बेहद लाड़ मिलने लगा और उसकी वृत्तियों में कोमलता तथा अन्य स्त्रियोचित गुण उभरने लगे। दस साल की उम्र में उसने संगीत का अभ्यास शुरू कर दिया। वह बड़ा गम्भीर रहता था, इसलिए उसके साथी उसे 'पादरी' कहकर तंग करते थे। साधारण खेल-कूद को वह बुरा समझता था और नाटक लिखा करता था। चौदह साल की उम्र में उसने अपनी पहली आत्मकथा लिखी। इससे पता चलता है कि उसकी मनोवृत्ति शुरू से ही अन्तर्मुखी थी। धर्म-कर्म में उसकी बड़ी रुचि थी और वह कड़े अनुशासन में विश्वास रखता था। इसका उसे घमण्ड भी था। एक दिन जब उसके साथी विद्यार्थियों ने बाइबिल की इस कथा पर अविश्वास प्रकट किया कि स्काइवोला अपने हाथ पर आग रख लेता था, तब नीत्शे ने अपनी हथेली पर माचिस की कई जलती हुई तीलियाँ रखीं और उन्हें तब तक रखे रहा, जब तक वे बुझ न गईं।

स्कूल की पढ़ाई पूरी करके वह बॉन विश्वविद्यालय में गया और भाषाशास्त्र का अध्ययन करने लगा। धर्म और साहित्य का भी उसने अध्ययन किया। उसकी प्रतिभा से सभी चकित थे और २४ वर्ष की अल्पायु में ही उसे बासेल विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद मिल गया। इस घटना ने भी उसका आत्मविश्वास प्रबल करने में बड़ी सहायता की। परन्तु इससे पूर्व वह कुछ समय के लिए फ्रेंच-प्रशियन युद्ध में भी सेवा करता रहा। यहाँ घोड़े से गिर पड़ने के कारण उसकी पसलियाँ टूट गईं और वह मुक्त कर दिया गया, परन्तु जीवन भर यह दुर्बलता उसे सताती रही। वह सैनिक होना चाहता था, परन्तु हो नहीं पाता था, इसलिए उसने एक कठोर और लड़ाकू महामानव की कल्पना करके सन्तोष किया।

इसी बीच उसके धार्मिक तथा नैतिक विचारों में भी क्रान्ति हो चुकी थी। उसने अपने पुरखों के धर्म को छोड़ दिया और नए धर्म तथा देवता की खोज में लग गया। ऐसा क्यों हुआ, इसका ठीक कारण पता नहीं चलता। कालेज में उसके साथी तथा बाद में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान्, पाल डयूसेन ने लिखा है कि एक दिन उसने किसी राह-चलते व्यक्ति से, ठहरने के लिए, किसी होटल का पता पूछा। उस व्यक्ति ने नीत्शे को होटल के बजाय वेश्यालय के सामने लाकर खड़ा कर दिया। पहले तो नीत्शे को घृणा हुई, परन्तु फिर वह सामने रखा पियानो बजाने लगा और वहाँ रहा। इस घटना ने उसके जीवन में परिवर्तन कर

दिया और वह शराब तथा सिगरेट पीने लगा। परन्तु इस कारण उसे सिफलिस भी हो गई जो जीवन भर चलती रही। सिफलिस के कारण वह बाद में स्त्रियों का साथ करने के अयोग्य हो गया। उसने विवाह नहीं किया और स्त्रियों की घोर निन्दा करने लगा। इसी में उसकी मानसिक अस्थिरता तथा तीव्रता का कारण भी ढूंढा जा सकता है।

बासेल विश्वविद्यालय में वह दस वर्ष रहा। इस बीच उसका स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि ३५ वर्ष की अवस्था में ही उसे बाध्य होकर शिक्षण-कार्य से अवकाश लेना पड़ा। उसे तरह-तरह के दौरे पड़ते थे, महीनों वह चारपाई पर पड़ा रहता था और उसे कुछ भी हज्म नहीं होता था। अपनी इस शारीरिक दुर्दशा की प्रतिक्रियास्वरूप उसने आत्मिक रूप से सबल व्यक्तित्व की कल्पना करनी शुरू कर दी और इस कल्पना पर शापेनहावर के इच्छाशक्ति वाले दर्शन का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी बीच जर्मनी और फ्रांस में दूसरी बार युद्ध छिड़ गया और रोगी नीत्शे उसमें भाग लेने चल पड़ा। फ्रैंकफर्ट में जब उसने एक सैनिक टुकड़ी को शान से मार्च करते देखा, तब जैसे उसे अपने भावी दर्शन के केन्द्र-विन्दु का साक्षात्कार हो आया। इस विषय में वह कहता है: 'मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि रोजमर्रा के साधारण जीवन-संघर्ष में जीवन की प्रबलतम और श्रेष्ठतम कामना प्रकट नहीं होती, वह प्रकट होती है युद्ध की इच्छा में, विजय की इच्छा में, अधिकाधिक शक्ति की इच्छा में।' उसे इलहाम तो हो गया परन्तु लड़ने का मौका नहीं मिला क्योंकि अधिकारियों ने उसे नर्सिंग के ही ज्यादा उपयुक्त समझा। इसमें भी वह दुर्बल साबित हुआ क्योंकि खून देखकर उसे गश आ जाता था। शीघ्र ही खुद भी बीमार होकर वह घर लौट आया और महामानव की कल्पना कर-करके किताबें लिखने लगा।

इसी बीच उसकी मैत्री वैगनर से हुई जो शक्तिशाली संगीत के रचयिता के रूप में प्रख्यात था। वैगनर स्वतन्त्र प्रतिभा का व्यक्ति था तथा ईसाइयत से घृणा करता था। वह कहता था कि कायरतावादी इस एशियाई धर्म ने यूरोप का सत्यानाश कर दिया है। वह यूरोप, विशेषतः जर्मनी की प्राचीन प्रखरता को फिर से स्थापित करना चाहता था और ऐसे ही संगीत की रचना करता था। स्वभावतः नीत्शे उससे बहुत प्रभावित हुआ और उसकी प्रशंसा में किताबें तक लिखने लगा। नीत्शे वैगनर की बीवी—जो वास्तव में किसी और की बीवी थी—के

प्रति भी बहुत आकृष्ट था और अपने अन्तिम दिनों के पागलपन में उसे "मेरी बीबी कोसिमा वैगनर" ही कह कर सम्बोधित करता था। लेकिन वैगनर से नीत्शे की ज्यादा निभी नहीं और कुछ समय बाद दोनों की मित्रता टूट गई। तब नीत्शे ने सार्वजनिक रूप से उसका विरोध करना शुरू कर दिया।

नीत्शे का परिचय लाउ सलोमी नामक एक अत्यन्त विलक्षण प्रतिभा की युवती से भी हुआ। उसमें नीत्शे ने ऐसे साथी को देखना शुरू किया जो उसके विचारों की वारिस ही नहीं होगी, उन्हें आगे भी बढ़ाएगी। इसलिए उसने सलोमी से शादी करने का विचार प्रकट किया। परन्तु सलोमी को नीत्शे की भाले जैसी तीखी आँखें पसन्द नहीं आईं। इसलिए उसने उसी व्यक्ति को वर लिया जिसे यह शादी कराने का काम सौंपा गया था। अब नीत्शे की बहिन उसकी देख-रेख करने लगी। नीत्शे ने कहा कि 'दार्शनिकों के लिए पत्नी की अपेक्षा बहिन ही ज्यादा ठीक रहती है।' परन्तु एलिज़ाबेथ भी किसी के प्रेम में पड़ गई और भाई को छोड़कर चली गई। उसने भाई को अपने साथ चलने को कहा, लेकिन नीत्शे के गर्व ने यह स्वीकार नहीं किया।

नीत्शे ने ९-१० किताबें लिखीं, जिसमें मृत्यु के बाद प्रकाशित हास्यास्पदता की सीमा तक मनोरंजक उसका जीवन-चरित्र भी है। उसकी प्रमुख पुस्तक "दस स्पेक ज़रथुस्त्र" चालीस वर्ष की अवस्था में प्रकाशित हुई। इसमें उसने बड़ी सबलता से अपना दर्शन रख दिया। इसके बाद उसने जो कुछ लिखा, उसमें इसी के विविध पक्षों की व्याख्या की गई है। 'दस स्पेक ज़रथुस्त्र' के प्रकाशन में नीत्शे को स्वयं भी व्यय करना पड़ा और उसका स्वागत अच्छा नहीं हुआ। जिन लोगों ने नीत्शे की पहली रचनाओं की प्रशंसा की थी, उन्होंने भी इस रचना पर खेद प्रकट किया। परन्तु इससे नीत्शे निरुत्साहित नहीं हुआ। उसने 'बियांड गुड एण्ड ईविल' तथा 'द जेनीलॉजी ऑव मारल्स' लिखकर प्राचीन नैतिकता की धज्जियाँ उधेड़ीं और महामानव के लिए नई नैतिकता की रचना करने लगा। उसने 'एंटीक्राइस्ट' नामक ग्रन्थ लिखा जो उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। अपने 'विल टु पॉवर' में उसने आगामी दो शताब्दियों का इतिहास लिखा है और भविष्यवाणियाँ की हैं। इस किताब का उपनाम है—'हथौड़े से दर्शन किस तरह रचा जाए ?' अपनी आत्म-कथा में उसने अपने को देवता या महामानव माना है। इसके कुछ

अध्याय इस प्रकार हैं—'मैं इतना बुद्धिमान क्यों हूँ ?', 'मैं इतने अच्छे ग्रन्थ क्यों लिखता हूँ ?', 'मैं इतना चतुर क्यों हूँ ?', 'मैं नियति क्यों हूँ ?' आदि। इसमें वह अपने को 'मृत ईश्वर का वारिस', 'सीज़र' और 'क्रास पर चढ़ा ईसा' घोषित करता है। उसने मांग की कि जर्मन सम्राट् को फाँसी पर चढ़ा देना चाहिए।

नीत्शे की मृत्यु ५६ वर्ष की अवस्था में हुई। पागलपन के दिनों में उसकी बूढ़ी माँ ने, जो उसके कृत्यों से दुखी रहती थी, आकर उसकी सेवा की। परन्तु वह भी शीघ्र ही चल बसी। तब उसकी बहिन ने उसकी सेवा की। नीत्शे का अन्त बड़ा दुःखद था। परन्तु उसे पागल करके शायद प्रकृति ने उस पर कृपा ही की थी। अब उसका दिमाग़ शांत था और कोई भी समस्या उसे परेशान नहीं करती थी। एक बार एलिज़ा को रोते देखकर उसने पूछा : "बहिन, तुम रो क्यों रही हो ? क्या हमें कोई दुःख है ?" यह सुनकर बहिन और भी फूट-फूट कर रोने लगी।

जिस नगर में नीत्शे ने ये दिन बिताए, वहीं लोम्ब्रोसो नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रहता था। बाद में उसने 'जीनियस एंड इन्सेनिटी' नामक पुस्तक लिखी जो बहुत लोकप्रिय हुई।

● ● ●

वास्तव में नीत्शे ने जो विचार प्रकट किए, उनका आधार स्पेंसर और डार्विन के विकासवाद द्वारा पहले ही रखा जा चुका था। यदि जीवन एक संघर्ष है, जिसमें योग्यतम ही सुरक्षित रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं, तो शक्ति ही सर्वोत्तम गुण और दुर्बलता ही चरम दोष होना चाहिए। ऐसी अवस्था में ईसाई धर्म और कर्मकाण्ड, जो दया और सेवा सिखाता है, एकदम समाप्त हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिए लड़ने का अधिकार मौलिक रूप से प्राप्त हो जाता है। यह कहने का साहस पहले-पहल नीत्शे ने किया और इस नवीन नैतिकता पर आधारित जीवन की सम्पूर्ण रूपरेखा ही खड़ी करके सामने रख दी। ये बातें अक्सर सही लगती हैं और यदि उनका अतिरंजन दूर करके उन्हें निबन्ध की सीधी भाषा में लिख लिया जाय, तो शायद वे हितकर भी हो सकती हैं।

अपनी आत्मकथा में नीत्शे कहता है : 'मैं मनुष्य की अपेक्षा युद्ध-भूमि अधिक रहा हूँ।' यह बात दयनीय सीमा तक सच है। उसके अपने कष्टों ने उसके विचारों को रंग दिया। परन्तु उसका घमण्ड उसकी

दुर्बलता स्वीकार करने को तैयार नहीं था, इसलिए उसने समग्र मानव प्राणियों को चींटियों के समान निरर्थक बताकर घोषित किया कि मुझसे एक नई मानव जाति का आरम्भ हो रहा है। इस नए मानव को उसने 'सुपरमैन' का नाम दिया जिसमें पहले तो उसने प्रजातीय परिवर्तनों की कल्पना की, परन्तु बाद में इसे छोड़ दिया और व्यक्तिगत रूप से कुछ लोगों के महान् शक्तिशाली और समर्थ होने को 'सुपरमैन' होना बताया। उसने कहा कि 'सुपरमैन' अपना स्वामी स्वयं है और आम जनता को अपनी इच्छानुसार संचालित करता है।

उसने कहा कि आज तक जनता को ईसाइयत की नम्रता, दया और त्याग की शिक्षाएँ देकर गुलाम बनाए रखा गया है। ईसा खुद अच्छा आदमी था क्योंकि उसने अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष किया और वह यह नहीं चाहता था, जो उसके बाद उसके शिष्यों ने किया। ईसाइयत ने 'पाप' की धारणा को फैलाया और मनुष्यों को भयभीत भेड़ें बना दिया। इसने 'करुणा' का अहितकर विचार फैलाया जिससे दुर्बलता उत्पन्न होती है और मनुष्य संघर्ष से भागने लगता है। ईसाइयों का ईश्वर रोगियों का ईश्वर है जो सब नैसर्गिक क्षमताओं और कामनाओं का विरोधी है। ईसाइयत ने दुनिया को बदसूरत और पापपूर्ण मानकर उसे सचमुच ही ऐसा बना दिया है।

नीत्शे कहता है कि चर्च ने सेक्स को, जो जीव की सर्वोत्तम और प्रबलतम प्रवृत्ति है, पाप मानकर मानवता का सबसे बड़ा अहित किया है। परंतु ईसाइयों की सब पीढ़ियां इस पाप भावना से ही स्वतः को प्रत्युत्पन्न करती रही हैं। इसी कारण साहित्य में प्रेम कथाओं का बोलबाला है। चर्च ने मनुष्यों को डरा-डराकर उसे सज्जन बनाने का प्रयत्न किया है, जिससे वास्तव में उसकी दुर्बलता ही बढ़ी है।

नीत्शे इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि दो हजार साल पहले चर्च ने मानवता को जो ईश्वर दिया, वही अब तक चल रहा है। इस बीच नया देवता क्यों नहीं आया ? क्योंकि—उसने कहा—ईश्वर तो मर चुका है। हां, ईश्वर मर चुका है, उसके अन्य सब साथी देवता भी मर चुके हैं। "बहुत दिन पहले ये सब मर-मरा गए। इनकी मौत अच्छी और सुखपूर्ण रही। वे सड़-सड़कर नहीं मरे, सत्य यह है कि वे हँसते-हँसते मरे।······यह घटना तब हुई जब एक ईश्वर ने घोषित किया—मेरे अलावा कोई और ईश्वर नहीं है। यह कहने वाला ईश्वर बूढ़ा था और

उसकी दाढ़ी बड़ी लम्बी थी। उसकी बात सुनकर दूसरे ईश्वर हँसने लगे और बोले—क्या ईश्वरों का होना ईश्वरीयता नहीं है और न होना ईश्वरीयता है ? हँसते-हँसते वे अपनी कुर्सियों पर दुहरे हो गए और फिर मर गए। जिसके कान हों, वह यह सुने। जरथुस्त्र ने यह कहा।"

इस परिवर्तन को नीत्शे युग की सबसे बड़ी घटना मानता है। वह कहता है कि सूर्य निकल आया, उत्तर-ईसाई युग आरम्भ हो गया। इस घटना के कारण ईश्वर के आधार पर बना मानव-जीवन का ढांचा गिर चुका है, अब उसे नए सिरे से बनाना पड़ेगा। अब एक खुला समुद्र हमारे सामने है, जैसा पहले कभी नहीं था। आइये, जहाज़ पर चढ़कर नए देशों को खोजें।

यह घोषणा करके नीत्शे ने इतिहास, राजनीति, युद्ध-क्रांति, मानवी अधिकार, शिक्षा, जीवन तथा मृत्यु का अर्थ आदि सभी विषयों की मीमांसा शुरू कर दी। उसने इतिहास को नियमहीन घटनाओं के समूह के रूप में देखा। उसने कहा कि इतिहास क्रूरता तथा मूर्खताओं के अलावा कुछ नहीं है। इतिहास में मनुष्य जाति की कोई उन्नति नहीं हुई और प्रचलित शिक्षा-पद्धति तथा लोकतन्त्र ने सब चौपट कर रखा है। शिक्षा का उद्देश्य शक्तिशाली, बुद्धिमान तथा कुलीन मनुष्य का निर्माण करना होना चाहिए। ये लोग ऐसे हों जो ईश्वर के सहारे के बिना रह सकें। ये लोग एकाकी होंगे तथा इन्हें प्रसन्नता का त्याग करना पडेगा। वे जनता पर अपनी इच्छा चलाएँगे परन्तु उससे घुल-मिल नहीं सकेंगे। सैनिक अफसर तथा सिपाहियों का सम्बन्ध इनका आदर्श होगा।

नई नैतिकता की व्याख्या करते हुए नीत्शे ने कहा कि नैतिकता दया में नहीं, शक्ति में है। जो चीजें जीवन को कुछ देती है, वे ही उत्तम हैं, अन्य नहीं। बौद्ध धर्म चावल खाने का परिणाम है। समाज का उद्देश्य व्यक्ति की शक्ति और महत्ता बढ़ाना ही होना चाहिए। प्रकृति श्रेष्ठ वस्तुओं के प्रति दयालु नहीं है, वह उन्हें नष्ट करती चलती है। वह साधारण तथा निकृष्टों को खुशी से बढ़ने देती है। इसलिए योजनापूर्ण प्रजनन से तथा कुलीन शिक्षा से ही महामानव की सृष्टि की जा सकती है। प्रेम विवाह अनुचित है, कुलीनों के विवाह कुलीनों से तथा साधारणों के विवाह साधारणों से ही कराए जाने चाहिए। अच्छी सन्तानें उत्पन्न कराकर उन्हें कठोर शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसा व्यक्ति अच्छे और बुरे से ऊपर होगा और आवश्यकता पड़ने पर बुरे काम भी कर सकेगा।

शक्ति, बुद्धि और गर्व—इन तीन वस्तुओं के योग से महामानव बनता है। ऐसे व्यक्ति का आदर्श सामने रखकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं और जीवन से प्यार कर सकते हैं। या तो हम खुद महान् बनें या महानों के कार्य के यन्त्र बनें—जैसे लाखों व्यक्तियों ने नेपोलियन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए हँसते हुए अपने प्राण दे दिए। कुलीन तन्त्र में ही यह सब हो सकता है. "सिर गिनने वाले" लोकतन्त्र में नहीं। इसलिए लोकतन्त्र को जल्द से जल्द खत्म कर देना चाहिए। इसके लिए पहले ईसाइयत को खत्म करना आवश्यक है क्योंकि ईसाई विचारधारा के कारण ही लोकतन्त्र पैदा हुआ।

नीत्शे कहता है कि प्रोटेस्टेंट धर्म ने जर्मनी का सर्वनाश कर दिया। इसी तरह शराब पीने की आदत ने जर्मन जाति की बुद्धि ऐसी भ्रष्ट की कि वे महान् कार्य करने के बजाय तत्वज्ञान की मीमांसा करने लगे। "जर्मन व्यक्ति मेरे साथ हो, तो मेरा हाजमा खराब हो जाता है।" फिर भी फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों से जर्मन ज्यादा सशक्त और पुरुषोचित हैं, और उनसे भविष्य में कुछ आशा की जा सकती है। परन्तु रूसी जातियां अधिक पौरुषपूर्ण हैं और जर्मनों को उनके साथ जल्द से जल्द मिल जाना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो रूस उनका गला घोंट डालेगा। परन्तु जर्मन संस्कृत नहीं हैं। संस्कृति फ्रांस के अलावा कहीं नहीं है। वहां के शक्तिशाली कुलीन तन्त्र में सस्कृति पली और यूरोप में फैली। पर अब अंग्रेज, जो सबसे निकृष्ट है, अपनी दुकानदारी और लोकतन्त्र से फ्रांस को भ्रष्ट कर रहे हैं। अतः अंग्रेजों को खत्म कर देना उचित है, उनके लोकतन्त्र को इससे भी पहले खत्म कर देना चाहिए।

नीत्शे के अनुसार लोकतन्त्र में महामानव जन्म नहीं ले सकता। लोकतन्त्र साधारण को बढ़ाता तथा उत्तम को नष्ट करता है। महान् व्यक्ति चुनाव के लिए कैसे खड़ा हो सकता है और कैसे उसकी अशिष्टताओं को झेल सकता है? और ऐसा राष्ट्र, जो अपने महापुरुषो को निरुत्साहित करे, कैसे उन्नति कर सकता है? एक न एक दिन वह नष्ट हो ही जाएगा।

समाजवाद भी लोकतन्त्र का ही बगलबच्चा है। समानता प्रकृति के विरुद्ध है। इसमें दूसरे का शोषण करके ही आगे बढ़ा जाता है। इसी तरह स्त्री और पुरुष की समानता भी असम्भव है। पुरुष स्त्री पर विजय प्राप्त करने के लिए है। स्त्री भी यही पसन्द करती है कि वह किसी

सच्चे पुरुष के अधीन होकर रहे। वह माता बनने के लिए ही पुरुष का साथ करती है और उद्देश्य पूरा हो जाने पर उसे छोड़ देती है। इसलिए स्त्री पुरुष के लिए बड़ा खतरनाक खिलौना है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। नीत्शे के महामानव को खूंखार जानवर के रूप में देखने की परम्परा पड़ गई है जिसे दुर्भाग्यवश हिटलर और मुसोलिनी ने पुष्ट भी किया। परन्तु सत्य यह नहीं है। नीत्शे का महामानव शक्तिशाली और शासक होते हुए भी अतिशय सहनशील, शांत तथा कुलीन है। वह किसी निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर सब कार्य करता है और लोगों को चलाता है। इसलिए मूलतः वह मानवता का हितैषी ही है, शत्रु नहीं।

● ● ●

आरम्भ में तो नीत्शे के विचारों का विरोध हुआ, परन्तु धीरे-धीरे वे फैलने लगे। यह बिस्मार्क का युग था और बिस्मार्क भी महामानव की कल्पना से मिलता-जुलता था। कुछ ही महीनों में उसने आस्ट्रिया से अपना नेतृत्व मनवा लिया, फिर नेपोलियन के नशे में उन्मत्त फ्रांस को झुका दिया और एक नया जर्मनी बनाकर खड़ा कर दिया। नीत्शे की लोकप्रियता तेजी से बढ़ी और लोग उसकी कही बातों को अपने भीतर अनुभव करने लगे। 'ईश्वर मर गया' की उसकी घोषणा के कारण अनीश्वरवाद की लहर फैली और धर्म से लोगों का मन हटने लगा। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को उसके कार्य ने बहुत बल दिया। जीवन के निषेधवादी तत्त्वों के प्रति लोगों की अरुचि बढ़ने लगी। आज भी यह सब हो रहा है।

इस तरह नीत्शे ने एक चमत्कार दिखाया जिसमें अच्छे और बुरे, काले और सफेद दोनों का तीखा सम्मिश्रण है। उसने जीवन की दुर्बलताओं तथा शक्तियों को एक साथ, बड़ी सफलता से, प्रस्तुत किया। ●

जेम्स
१८४२-१९१०

●

विलियम जेम्स को अमेरिकी संस्कृति का दार्शनिक प्रतिनिधि कहा जाता है। यूरोपियन संस्कृति के विस्तार के रूप में यद्यपि अमेरिकी संस्कृति अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में पितृदेश यूरोप की ही धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक तथा सामाजिक परम्पराओं का अनुकरण करती रही, परन्तु शीघ्र ही उसने प्रत्येक क्षेत्र में अपना विशिष्ट मौलिक रूप ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। यह रूप अमेरिका की अपनी परिस्थितियों तथा समस्याओं से प्रभावित और प्रेरित था जिसमें एक अत्यन्त विस्तृत भूप्रदेश को प्रबल परिश्रम से जीतना, बसाना, भोजन सामग्री उत्पन्न करना, खनिजों को निकालना, उद्योग धंधे स्थापित करना, नया राजनीतिक और सामाजिक ढांचा खड़ा करना तथा अपने को इस सब खुलेपन तथा नवीनता के योग्य बनाना और ढालना था। संक्षेप में, इन्हें प्रत्येक कार्य नये सिरे से करना और परम्परागत आधारों पर चलकर भी एक नितांत नया जीवन बसाना था। प्रबल कर्मठता इस सब के लिए अनिवार्य गुण थी और इसके सहारे कुछ समय बाद ही इन्होंने एक धनवान् और सुख के सभी साधनों से पूर्ण सभ्यता खड़ी कर ली। राजनीतिक रूप से भी इसने यूरोप से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया और स्वतन्त्र शासन के अन्तर्गत लोकतन्त्र का एक नवीन रूप भी विकसित किया।

इस नवीन व्यक्तित्व को एक नवीन दर्शन की भी आवश्यकता थी जो उसके चरित्र को एक बौद्धिक अधिष्ठान ही न देता, उसे प्रेरणा प्रदान करता तथा विकसित भी करता। जेम्स ने व्यवहारवादी दर्शन के रूप में

यह नया दर्शन प्रदान किया, जिसके बीज उससे पहले पियर्स द्वारा डाले गए थे और जिसमें फल और फूल उसके पश्चात् डिवी तथा अन्य दार्शनिकों द्वारा उगाए गए। इस दर्शन में वस्तु को उसके परिणाम से सही या गलत मानने की प्रवृत्ति, नया-नया निर्माण करने और सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने की प्रवृत्ति बड़ी प्रबलता से विद्यमान थी। वैसे इनसे पहले भी अमेरिका में विचारक और दार्शनिक हुए, जिनमें सांतायन को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी प्राप्त है, परन्तु वे सब शुद्ध यूरोपीय परम्परा के दार्शनिक थे और पियर्स तथा जेम्स से ही ऐसा प्रतीत होना आरम्भ हुआ कि अब अमेरिकी चिन्ता ने अपनी विशिष्टता विकसित कर ली है, एक नया मोड़ ले लिया है, तथा अब वह अपनी ही आन्तरिक शक्ति के सहारे आगे बढ़ सकती है। 'व्यवहारवाद' एक संपूर्ण और सुसंगठित दर्शन न होते हुए भी अपनी तर्कसंगत और लाभदायक विशेषताओं के कारण विश्व के दार्शनिकों को मान्य हो गया है। यही नहीं, इसने यूरोप के भी रसेल आदि दार्शनिकों को प्रभावित किया है और शिलर के रूप में इसी परम्परा का एक स्वतन्त्र दार्शनिक भी उत्पन्न कर दिया है।

विलियम जेम्स में अमेरिकी मस्तिष्क ही नहीं, दैनिक व्यवहार तथा उद्योग-व्यापार की भाषा भी बोलती है। 'नकद मूल्य', 'लाभ', 'परिणाम' आदि वाणिज्य के शब्दों का उसने अपने दर्शन में खुला प्रयोग किया और उन्हें अपने दर्शन का केन्द्रविन्दु ही बना दिया। सत्य की मीमांसा करते हुए उसने कहा कि यदि उसके परिणाम तर्कसंगत तथा लाभदायक हैं, तभी वह सत्य है, अन्यथा नहीं। उसने बताया कि विचारों का नकद मूल्य ही सत्य होता है। इस विचार के आधार पर उसने समस्त प्राचीन ज्ञान, दर्शन आदि की परीक्षा की और इस नई कसौटी पर जो भी वस्तु खरी नहीं उतरी, उसे असत्य घोषित कर दिया। जनता को इससे लाभ यह हुआ कि उसे बहुत से हवाई विचारों तथा संस्कारों से मुक्ति मिल गई और वह प्रत्येक वस्तु का भली भाँति उपयोग करना सीख गई। परन्तु आश्चर्य यह है कि इतने क्रान्तिकारी सिद्धान्त का सहारा लेकर भी जेम्स ने प्राचीन धर्म, ईश्वर, रहस्यवाद आदि का बहिष्कार नहीं किया, अपितु एक नया उपयोगितावादी अर्थ देकर—कि इनसे मनुष्य को आशा और सहारा ही मिलता रहा है—उनका समर्थन ही किया। धर्म ने जो बड़े बड़े अत्याचार किए तथा समाज को अनेक सम्प्रदायों में विभाजित किया—जो निस्सन्देह हानि की बात थी—इस ओर उसका ध्यान नहीं गया। वैसे उसने धार्मिक विषयों का काफी गहराई से

मनोवैज्ञानिक विवेचन किया और इस सम्बन्ध में दिए गए उसके भाषणों के रोचक संग्रह 'वेराइटीज़ आव रिलीजस एक्सपीरिएंस' के पचासों संस्करण हुए हैं और संसार भर में सभी ने इसको बहुत पसन्द किया है। जेम्स के अन्य सभी ग्रन्थ भी बड़ी सरल शैली में लिखे गए हैं और यह भी उनके व्यापक प्रचार तथा लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण है।

● ● ●

जेम्स के बाबा आयरलैंड से आये थे और अपने पीछे विपुल सम्पत्ति छोड़ गए थे। फलत: जेम्स के पिता का जीवन बड़ा सुखपूर्ण था और उन्हें किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं थी। उन्होंने धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों के अध्ययन और लेखन में रुचि लेना आरम्भ किया और कारलाइल, इमर्सन जैसे व्यक्तियों से मित्रता स्थापित की। इस वातावरण का प्रभाव उनकी सन्तानों पर पड़ा और वे भी बौद्धिक विषयों में रुचि लेने लगे। यह परिवार घूमता भी बहुत था। बालक जेम्स अपने एक वर्ष छोटे भाई हेनरी जेम्स के साथ—जो कालान्तर में प्रसिद्ध लेखक हुआ—फ्रांस, स्विट्ज़रलैण्ड तथा अमेरिका के विभिन्न भागों में घूम-फिरकर शिक्षा प्राप्त करता रहा। उसने कला, साहित्य तथा विज्ञान में अच्छी उन्नति की। उसे विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप स्वतः को ढालने की भी अच्छी शिक्षा प्राप्त हो गई। परन्तु स्वास्थ्य उसका सदा ही दुर्बल रहा और उसके स्वभाव में एक विशेष प्रकार की अस्थिरता आ गई।

कुछ समय तक जेम्स ने कलाकार बनने का भी प्रयत्न किया। फिर उसने शरीर विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करने के लिए हारवर्ड विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखा लिया। शिक्षा समाप्त करके वह यहीं पहले शरीर-विज्ञान का अध्यापक हुआ, फिर मनोविज्ञान और अन्त में दर्शन का। सेवामुक्त होने तक वह यहीं कार्य करता रहा। यहाँ उसने अमेरिका की पहली मनोविज्ञान-प्रयोगशाला स्थापित की तथा बाद में सुप्रसिद्ध 'सोसायटी फार साइकिकल रिसर्च' की स्थापना में भी बड़ा भाग लिया। यह संस्था टैलीपैथी आदि मनोवैज्ञानिक चमत्कारों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करती है।

सन् १८९० में जेम्स ने अपनी 'प्रिंसिपिल्स आव साइकॉलॉजी' प्रकाशित की जिसकी रचना में उसने ९ वर्ष व्यतीत किए थे। इसे उसने चार-पांच बार लिखा और दुहराया था। इसका विषय ही महत्त्वपूर्ण नहीं था, शैली भी बड़ी साहित्यिक थी, अतः प्रकाशित होते ही इसकी

धूम मच गई। इसका अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और संसार भर में इसका प्रचार हुआ। मनोवैज्ञानिक के रूप में जेम्स की महत्ता सबने स्वीकार कर ली और दार्शनिक बनने का मार्ग उसके लिए खुल गया। इस पुस्तक की बहुत थोड़ी बातें आज तक बदली जा सकी हैं, भले ही उनका विस्तार बहुत कर लिया गया हो। अनेक विद्वान् जेम्स को दार्शनिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक ही अधिक मानते हैं। जो हो, शरीर-विज्ञान से मनोविज्ञान और फिर दर्शन की ओर यह प्रगति बड़ी लाभदायक रही क्योंकि अन्त में जो दर्शन प्रकट हुआ, वह पिछले दोनों विषयों के ज्ञान से समर्थित और पुष्ट था।

१८९७ में जेम्स को दर्शन का प्राध्यापक बना दिया गया। परन्तु अब उसका स्वास्थ्य खराब रहने लग गया था। अब वह अधिक परिश्रम करके ग्रन्थ नहीं लिख सकता था। इसके बाद उसकी जो रचनाएँ प्रकाशित हुईं, वे मुख्यतः भाषणों के संग्रह हैं। उसके निबन्धों के कई संग्रह भी इस बीच प्रकाशित हुए। इनमें अनेक स्थानों पर तो उसका चिन्तन बहुत गहरा और प्रभावी है, परन्तु अनेक स्थानों पर वह उथला और अपूर्ण सा प्रतीत होता है। सन् १८९७ में 'दि विल टु बिलीव' प्रकाशित हुआ और पांच साल के बाद 'वेराइटीज़ आव रिलीजस एक्सपीरिएंस' जो एडिनबरा विश्वविद्यालय में दिए गए भाषणों का संग्रह है। इसके भी पांच साल बाद, १९०७ में, उसकी प्रमुख पुस्तक 'प्रैग्मैटिज्म' प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् जीवन के अन्तिम दिनों में 'ए प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स' तथा 'दि मीनिंग आव ट्रुथ' प्रकाशित हुईं। सन् १९१० में उसकी मृत्यु हुई और इसके बाद दो पुस्तकें और प्रकाशित हुईं जिनमें 'एसेज़ इन रेडिकल इम्पीरिसिज्म' बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। इसके अतिरिक्त उसके पत्रों के चार संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं जो बड़े रोचक हैं।

● ● ●

'प्रैग्मैटिज्म' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १८७८ में पियर्स ने अपने एक लेख, 'अपने विचार कैसे स्पष्ट करें', में किया था। इसमें उसने कहा था कि किसी भी विचार की सत्यता जाँचने के लिए हमें उसके परिणामों की जाँच करना चाहिए। यदि परिणाम अच्छे हैं, तो विचार भी ठीक है, यदि परिणाम बुरे हैं, तो विचार ठीक नहीं है। पियर्स ने साधारण अर्थ में ही इसका प्रयोग किया था, परन्तु जेम्स ने इसको कसौटी मानकर दर्शन के सभी विषयों की भी इसके द्वारा जांच करना शुरू कर दी।

पियर्स ने जेम्स के इस कार्य का विरोध भी किया परन्तु एक बार स्वीकार कर लेने के बाद जेम्स ने उसे अन्त तक पहुँचाए बिना नहीं छोड़ा। इसके सहारे उसने 'सत्य' की भी एक नई व्याख्या प्रस्तुत की। सौंदर्य और शिव की भाँति पहले सत्य को भी एक वस्तुपरक सत्ता ही माना जाता था। जेम्स ने कहा कि यह ठीक नहीं है, मानवी आवश्यकताओं के आधार पर ही उसका निर्णय किया जाना चाहिए। उसने कहा कि सत्य कोई निर्वैयक्तिक वस्तु नहीं है, वह मानवी जीवन से सम्बन्धित है—विचार का 'नकद मूल्य' ही सत्य है।

'प्रैग्मा' शब्द का अर्थ होता है क्रिया। अतः 'प्रैग्मैटिक' पद्धति में पहले यह निश्चय किया जाता है कि किसी भी विचार का वास्तविक अर्थ क्या है। यदि वह विचार सत्य है तो उसकी क्रिया से होने वाले परिणामों को देखा या अनुभव किया जाना चाहिए। यदि परिणामगत तथ्यों की सत्ता हो तो विचार भी सत्य है, अन्यथा नहीं—वह कोरी बकवास है। वैज्ञानिक विचारों तथा विषयों के सम्बन्ध में तो यह जांच सरलता से की ही जा सकती है। नैतिक विचारों तथा विश्वासों के सम्बन्ध में जांच करने का उपाय यह है कि जिस विचार या विश्वास का परिणाम अन्ततः मानवता के लाभ में हो, वही विचार सत्य है। इस सम्बन्ध में जेम्स का दृष्टिकोण उपयोगितावादी है और वह मानता है कि विभिन्न मानव समाजों की विभिन्न प्रवृत्तियाँ तथा रुचियाँ होने के कारण प्रत्येक के लिए भिन्न भिन्न विचार और विश्वास सत्य हो सकते हैं।

धार्मिक विचारों के क्षेत्र में जेम्स की मान्यता और भी ज्यादा उदारतापूर्ण है। वह कहता है कि धार्मिक विषयों को वैज्ञानिक रूप से पुष्ट नहीं किया जा सकता, इसलिए हम उन्हें अपनी ही जिम्मेदारी पर स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। वह कहता है कि मनुष्य में विश्वास करने की प्रवृत्ति मौलिक रूप से विद्यमान है और ईश्वर तथा देवताओं की सत्ता को स्वीकार करके उसने अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को विविध लाभ पहुँचाए हैं। इसलिए ईश्वर या देवता या धर्म सत्य हों या न हों, वे मानव के लिए उपयोगी अवश्य रहे हैं—उन्होंने मनुष्य में आशा और विश्वास उत्पन्न किया है, उनको साहस प्रदान किया है, उन्हें मानसिक उत्तेजना तथा प्रसन्नता दी है, उनके समाजों को संगठित किया है। इसलिए मनुष्य को इन सब में विश्वास करने का पूण अधिकार है। वह यह भी कहता है कि पूर्ण निष्ठा के कारण ही कुछ विश्वास अन्त में

सत्य बन जाते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में भी यही घटित होता है। यदि एक युवक युवती एक दूसरे पर पूरा विश्वास करके विवाह करें, तो यह विवाह सफल होगा, यदि सन्देह करके विवाह करेंगे, तो वह सफल नहीं होगा। जो व्यक्ति भविष्य के प्रति आस्था रखकर किसी भी कार्य में प्रवृत्त होते हैं, वे उसे पूर्ण कर लेते हैं। नये देशों और उपनिवेशों को वे ही लोग बसा सकते हैं, जो उसके भविष्य तथा सुख के प्रति पूर्ण आश्वस्त होते हैं। कठिन बीमारियों में जीवन के प्रति आस्था अक्सर रोगमुक्ति में सहायक होती है।

वास्तव में यह सब मनोविज्ञान का क्षेत्र है और मनुष्य का मन संकल्पों से प्रभावित तथा संचालित होता है। जेम्स कहता है कि चूंकि मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियाँ उसके वातावरण तथा परिस्थितियों के अनुरूप होती हैं, इसलिए जिन विषयों के वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में मानव मन का बाह्य संचालन लाभदायक हो सकता है। अतः सत्य के प्रमाण पूर्णतः बौद्धिक नहीं होते, और धार्मिक सत्यों के तो हो ही नहीं सकते। अतः सभी धार्मिक विचारों को सन्देह तथा विरोध की दृष्टि से देखना उचित नही हैं। ऐसे विचारों से क्रिया रुकती हैं और प्रगति नहीं हो पाती। इसलिए त्रुटि की स्पष्ट सम्भावना पर भी किसी धार्मिक विचार को स्वीकार करने का हमें अधिकार है।

● ● ●

यहाँ धर्म के केन्द्रीय विषय, रहस्यवाद (Mysticism), के सम्बन्ध में जेम्स का विश्लेषण तथा निर्णय जानना मनोरंजक होगा। ईसाई, हिन्दू, बौद्ध तथा मुस्लिम रहस्यवादियों के अनुभवों का विश्लेषण करते हुए जेम्स इस स्थिति की चार प्रमुख विशेषताएँ निश्चित करता है। पहली यह कि मन की इस स्थिति में नकारात्मक अनुभव होता है, अर्थात् व्यक्ति इस अनुभव का वर्णन नहीं कर पाता। ये स्थितियां बुद्धि से नहीं, भावना से सम्बन्धित होती हैं। और चूंकि यह एक नितान्त नवीन स्थिति है, इसलिए जिस व्यक्ति ने इसे कभी नहीं जाना, उसे इसका संकेत भी नहीं दिया जा सकता। जैसे जिस व्यक्ति ने प्रेम नहीं किया, उसे प्रेम के बारे में सही ज्ञान नहीं कराया जा सकता। दूसरी विशेषता यह कि इस अवस्था में ज्ञान हो जाता है, अर्थात् सत्य की गहराई की कुछ ऐसी प्रतीति होती है, जो बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकती—और जिसके सम्मुख बुद्धि के सब प्रयत्न तुच्छ प्रतीत होते हैं। ये अनुभव कुछ ऐसे ठोस और अधिकारपूर्ण होते हैं कि इन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

तीसरी विशेषता यह कि रहस्यवादी अनुभव ज्यादा देर तक नहीं टिकते। सामान्यतया इनकी अवधि आधा घण्टा और विशेष स्थितियों में एक या दो घण्टे होती है। समाप्त होने के बाद इनकी स्मृति नहीं रहती। चौथी विशेषता यह कि यद्यपि रहस्यवादी अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना होता है, परन्तु प्राप्त हो जाने पर प्रतीत यह होता है मानो इच्छाशक्ति ठहर गई हो और व्यक्ति के ऊपर किसी ऊँची सत्ता ने अधिकार कर लिया हो। इसके कारण कभी कभी व्यक्ति भविष्य-कथन आदि चमत्कार भी करने लगता है।

इसके बाद जेम्स एक महत्त्वपूर्ण बात यह कहता है कि इस स्थिति का कुछ सम्बन्ध सम्भवतः रोगों से भी है। विभिन्न नशीली वस्तुओं के उपयोग से भी कुछ-कुछ रहस्यवादी स्थिति का अनुभव होता है। इसीलिए साधु संन्यासी भांग, गाँजा, शराब आदि का प्रयोग करते हैं। इनके कारण उनके स्नायु तन्त्र जैसे खुल जाते हैं और उनकी चेतना को विशालता तथा एकता की अनुभूति होने लगती है। इसके विपरीत गम्भीरता की सामान्य स्थिति में चेतना संकुचित और निराश सी रहती है। शराबी की दशा में रहस्यवादी अनुभव का एक अंश निहित होता है। नाइट्रस आक्साइड के प्रयोग से तो बहुत तीव्र रूप से ऐसी चेतना का अनुभव होता है, प्रतीत होता है मानो सत्य के स्तर पर स्तर खुलते जाते हों। यह अनुभव जेम्स ने स्वय भी किया था। इसकी व्याख्या करते हुए वह कहता है कि सम्पूर्ण मानवी चेतना में बौद्धिक अर्थात् जीवन के क्रियाकलाप को समझने बूझने तथा संचालित करने वाली चेतना का अंश थोड़ा ही है; इसके अतिरिक्त जो चेतना का सागर है, वह बहुत भिन्न प्रकार का है, तथा वही ऐसी अवस्था में व्यक्ति के लिए खुल जाता है।

रहस्यवादी स्थिति प्राप्त होने का मनुष्य पर परिणाम क्या होता है? यद्यपि जेम्स यह स्वीकार करता है कि अनेक व्यक्ति रोगी से भी हो जाते हैं, परन्तु अन्य व्यक्तियों पर अच्छा परिणाम होता है। वे बहुत आशावादी बन जाते हैं तथा जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ईश्वरवादी, वह भी अद्वैतवादी, हो जाता है। तात्पर्य यह कि लगता है, मानो आत्मा ब्रह्म में एकाकार हो गई है और यह बड़े आनन्द की अनुभूति है। परन्तु यहां वह यह भी स्वीकार करता है कि विभिन्न धर्मों तथा समुदायों में यह अनुभव भिन्न प्रकार का होता है, जैसे हिन्दू साधना में ही इसके अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक प्रकार हैं। ईसाई रहस्यवादियों

के अनुभव भी विभिन्न प्रकार के हैं और वे ठीक से समझ में भी नहीं आते।

इस सब विवेचन के बाद वह कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालता है, जो वस्तुपरक अध्ययन के अच्छे उदाहरण हैं। पहला निष्कर्ष यह कि जिन व्यक्तियों को रहस्यवादी अनुभव होते हैं, उन्हें उनकी सत्ता पर पूरा विश्वास हो जाता है, जिसका उन्हें अधिकार भी है। दूसरा निष्कर्ष यह कि यह अवस्था प्राप्त करके भी उनमें ऐसा कोई स्पष्ट परिवर्तन प्रकट नहीं होता कि उसके समीपी व्यक्ति इसकी सत्ता का अतर्क भाव से विश्वास कर सकें। तीसरा निष्कर्ष यह कि इससे यह सिद्ध होता है कि चेतना पूर्णतः बौद्धिक ही नहीं है, उसके बहुत से भाग अन्य प्रकार के भी हैं, जो महत्त्व-पूर्ण हैं और जिनकी जाँच की जानी चाहिए।

तात्पर्य यह कि बुद्धि को रहस्यवादी अनुभूति की सत्ता को अस्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं है। इसके विपरीत, रहस्य-वादियों को भी यह अधिकार नहीं है कि वे उन व्यक्तियों पर अपने अनुभवों की श्रेष्ठता को लादें, जिन्हें उनकी कोई आवश्यकता महसूस नहीं होती। इसका एक कारण तो यही है कि इन अनुभवों का कोई एक रूप स्थिर नहीं हो पाया है और इनमें बड़ी विविधता है। इसके कुछ रूप तो हानिकर भी हो सकते हैं।

● ● ●

इस सब के बावजूद भी जेम्स ने स्वयं एकत्ववादी सिद्धान्त न मानकर बहुत्ववादी सिद्धान्त ही स्वीकार किया। उसने कहा कि कुछ विषयों में विश्व अवश्य एक है, परन्तु अन्य विषयों में वह अनेक है। जैसे काल तथा देश और आकर्षण, विद्युत आदि के नियमों में विश्व एक है, यद्यपि ये नियम भी कुछ स्थितियों में टूट जाते हैं। मनुष्य मात्र ऊपर से एक समान होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति भिन्न है। इसके अतिरिक्त इसमें विविध प्रकार के प्राणी तथा अन्य पदार्थ भी हैं ही। इन सब का कोई एक निश्चित उद्देश्य तथा दिशा भी नहीं दिखाई देती, मानव समाज तथा प्रकृति की सभी वस्तुओं में निरन्तर आन्तरिक संघर्ष चल रहा है। विश्व में थोड़ा सा संगठन और अनुशासन अवश्य है परन्तु पूरी तरह नहीं। इसलिए बहुत्ववादी सिद्धान्त ही उचित प्रतीत होता है।

इसी आधार पर जेम्स अपना धार्मिक दर्शन भी प्रस्तुत करता है। सर्वशक्तिमान परमसत्ता की कल्पना उसे पसन्द नहीं है। न उसका ईश्वर

ऐसा है जो विश्व के जीवन से अलग बैठा रहकर आनन्द करता रहता हो अथवा लोगों को केवल डराता धमकाता और आदेश देता रहता हो। उसका ईश्वर सीमित शक्ति वाला तथा मानवता का सहायक है। वह यह भी कहता है कि ईश्वर एक न होकर अनेक भी हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि वह शक्ति में या ज्ञान में, अथवा दोनों में ही, सीमित हो। परन्तु वह जो भी हो, वह हमारे जीवन तथा आदर्शों का मित्र है और हमारी धर्म की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। यदि हम अपने सभी कर्त्तव्यों को भली भाँति निभाते रहें, तो वह हम से प्रसन्न रहेगा और हम भी उसके उद्देश्यों को संसार में पूरा करते चलेंगे।

जेम्स नियतिवाद को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुसार धर्म तथा दर्शन को स्वीकार करता है, उनकी सत्यता या असत्यता के कारण नहीं करता। ये प्रवृत्तियां मूलतः दो प्रकार की हैं—कोमल और कठोर। कोमल प्रकृति वाला व्यक्ति सहज विश्वासी होता है और एकता, आशावाद, नियति तथा आदर्शों और रूढ़ियों को स्वीकार करता है। कठोर प्रकृति वाला व्यक्ति सन्देही और यथार्थवादी होता है और अनेकता, निराशावाद, स्वतन्त्रता, जड़वादिता आदि की ओर उन्मुख होता है। कुछ व्यक्ति इनके बीच की स्थितियों में रहते हैं तथा उनमें दोनों ओर के गुण थोड़े-थोड़े होते हैं। जेम्स स्वयं अपने आप और अपने दर्शन को कठोर की श्रेणी में रखता है, यद्यपि उसमें कुछ गुण कोमल श्रेणी के भी हैं। उसके अनुसार सृष्टि एकत्ववादी नहीं है जिसमें सभी प्राणी किसी परमसत्ता की इच्छाओं का पालन कर रहे हैं। न वह ऐसी पूर्ण ही है जिसमें व्यक्ति एक यन्त्र मात्र हो। सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को बहुत सीमा तक अपना जीवन चुनने तथा भविष्य बनाने या बिगाड़ने की स्वतन्त्रता है। यहां नियति ही सब कुछ नहीं है, कर्म भी कुछ है और प्रायः बहुत महत्त्वपूर्ण भी सिद्ध होता है।

परन्तु प्रमाण किसी भी पक्ष के लिए कुछ नहीं है। न तो सर्वशक्तिमान सत्ता का कोई प्रमाण है, न सीमित परमसत्ता का। इसी तरह न नियति का कोई अन्तिम प्रमाण है, न स्वतन्त्र इच्छा का। कुछ व्यक्ति नियतिवाद के पालन से ही बहुत लाभान्वित हो जाते हैं। इसलिए प्रमाणहीन विषयों में निर्णय करने के लिए मनुष्य को अपने स्वार्थों तथा हितों का ही प्रमुख विचार करना चाहिए। किसी न किसी रूप में ईश्वर का विश्वास समग्र मानव जाति और इतिहास का एक प्रमुख तथा केन्द्रीय

अंग रहा है। इससे उसकी उपयोगिता ही सिद्ध होती है। परन्तु जिन क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता न हो, उनका परित्याग भी कर देना चाहिए।

अमरता के विषय में जेम्स ने निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा है। वैसे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह आध्यात्मिक जगत् की सत्ता में विश्वास करने लगा था। वह कहता है कि मैं यह नहीं मानता कि विश्व में अनुभव का सर्वोत्तम रूप मानवी अनुभव ही है। जिस तरह हमारे पालतू कुत्ते और बिल्लियां घरों में हमसे सम्बन्धित होते हैं, उसी तरह हम भी सृष्टि की विभिन्न वस्तुओं से सम्बन्धित हैं। ये पशु हमारे कई ऐसे कार्यों में भाग लेते हैं, जिनका उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। इसी तरह हम भी किन्हीं अज्ञात रूपों में विश्व के साथ सम्बद्ध हो सकते हैं।

परन्तु वह दर्शन को मृत्यु की मीमांसा नहीं मानता। इसी जीवन के विकास की समस्याओं में उसे रुचि थी। स्वयं अपने जीवन में भी वह विविध प्रकार के सामाजिक तथा व्यक्तिगत कार्यों में लगा रहा। वह निराश और बेसहारा व्यक्तियों को धीरज और विश्वास देने के लिए सदैव उद्यत रहता था। वह मानता था कि प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षित शक्तियां होती हैं जो विपरीत परिस्थितियों तथा संकटों में ही प्रकट होती हैं और इसलिए वह सबसे यही कहता था कि इन शक्तियों का पूरा उपयोग करना चाहिए। युद्ध में नष्ट होने वाली विपुल मानव शक्ति की वह कड़ी निन्दा करता था और कहता था कि लड़ाई की यह प्रवृत्ति प्रकृति के विरुद्ध इस्तेमाल की जाय तो मानवता का कितना लाभ हो। लोग जंगलों को काटें, मौसम को वश में करें, नयी बस्तियां बसाएँ और रोगों को नष्ट करें तो उनकी शक्ति का दुरुपयोग होने के स्थान पर ऐसा उपयोग हो कि इतिहास चकित रह जाय।

अन्त में जेम्स ने अपने दर्शन को मौलिक अनुभववाद (Radical Empiricism) का नाम दिया। इसमें पहले अनुमान किया जाता है, फिर तथ्य का वर्णन किया जाता है और अन्त में एक सामान्य परिणाम निकाला जाता है। यह स्थिति कुछ ऐसी है कि, जो व्यवहारवादी नहीं हैं, वे भी इसे स्वीकार कर सकते हैं। जेम्स ने यह भी कहा कि व्यवहारवादी भी इसे मानें ही, यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः जेम्स ने अपने दर्शन से एक ऐसा व्यापक सम्मेलन सा निर्माण कर दिया जिसमें बहुत से

व्यक्ति भाग ले सकते हैं और अपने अपने विशेष वक्तव्यों को भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जेम्स ने दार्शनिक चिन्तन को एक नया रूप दिया, जीवन की दैनिक समस्याओं से उसकी समीपता स्थापित की और एक नया यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि उसे शुद्ध रूप से दाशनिक नहीं माना जा सकता और उसकी मीमांसाएँ बुद्धि को पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं करतीं। इसलिए उसके बाद के कुछ दार्शनिकों ने नए ढंग से इसी दर्शन को विकसित किया। परन्तु बुद्धि भी प्रत्येक बात का निर्णय कर ही सकती है, इसका क्या भरोसा है। मरने से कुछ ही मिनट पहले जेम्स ने लिखा—"अन्तिम निर्णय कुछ भी नहीं है। जो निर्णय हो चुका, उसका भी निर्णय कौन कर सकता है? बताने योग्य कोई भी भाग्य नहीं है, न कोई परामर्श ही है। विदा!" ●

ज्याँ पाल सार्त्र

१९०५–

अस्तित्ववाद का अंकुर डेनमार्क में फूटा और फ्रांस तथा जर्मनी में फैला तथा विकसित हुआ। शाखाएँ भी इसकी दो ही हुईं—ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी अथवा धार्मिक और धर्महीन। ईश्वरवादी शाखा में स्वयं किर्केगार्ड के अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स तथा फ्रेंच दार्शनिक गैब्रील मार्सेल आते हैं। दूसरी अनीश्वरवादी शाखा में मुख्य हैं जर्मन दार्शनिक मार्टिन हीडेगर, तथा फ्रेंच दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र और अल्बेयर कामू। परन्तु इन सब में सार्त्र ने जितनी अधिक ख्याति पाई, उतनी किसी अन्य ने नहीं प्राप्त की। सार्त्र ने ही अस्तित्ववाद को साहित्य और दर्शन के एक सिद्धान्त के रूप में विश्वव्यापी बनाया और लोगों को उसकी विशेषताओं के प्रति चुम्बक की तरह आकृष्ट किया। उसकी ख्याति में कुछ अंश कुख्याति का भी है क्योंकि उसने प्रेम तथा सेक्स को बड़े बीभत्स रूप में चित्रित किया है और समग्र मानव जीवन तथा प्रकृति—अथवा अस्तित्व मात्र को—एक अजीब चिपचिपे, लेसदार पदार्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। यह एक अजीब घुटन, उमस और गंदगी से भरा वातावरण है—जो वास्तव में आज की गहन संघर्षशील जिंदगी का ही वातावरण है, और जो सार्त्र की सभी साहित्यिक कृतियों में समान रूप से विद्यमान है। मनुष्य के अकेलेपन और बेबसी को सार्त्र बड़े प्रभावी और नाटकीय रूप में व्यक्त करता है और महत्त्वपूर्ण कार्य वह यह करता है कि उसका विधिपूर्वक विश्लेषण करके उसके आधार पर एक नए दर्शन, नई जीवन-दृष्टि और नए मानव मूल्यों का प्रतिपादन प्रस्तुत करता है। कहानी, उपन्यास और नाटक तथा दार्शनिक विवेचन के ग्रन्थों का समान अधिकार से प्रणयन करके सार्त्र ने साहित्य और दर्शन को परस्पर सम्बद्ध

कर दिया है, एक को दूसरे का पूरक बना दिया है या कहें कि दोनों का विवाह ही करा दिया है। वास्तव में यह फ्रेंच संस्कृति की ही विशेषता है कि उसमें साहित्य और दार्शनिक चिन्तन साथ-साथ चलते है। इससे जीवन दर्शन के बहुत समीप आ जाता है और दर्शन को पढ़ते हुए लगता है कि हम कोई हवाई बातें नहीं पढ़ रहे, अपितु रोजमर्रा की अपनी जिंदगी को जरा गहराई से देखने समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। कामू ने भी जहां दर्शन और राजनीति पर ग्रन्थ लिखे, वहां नाटक तथा उपन्यासों में अपने दृष्टिकोण को व्यक्त और विश्लेषित करने का प्रयत्न किया।

सेक्स आदि की बहुत उखाड़-पछाड़ करने के कारण प्रायः लोग सार्त्र को हलका समझ लेते हैं और उसे पूरा पढ़ने का धीरज भी नहीं जुटा पाते। अनेक व्यक्तियों को उसके कथनों में परस्परविरोध दिखाई देता है, जो कुछ अंश में सही भी है। परन्तु एक ओर तो उसका काम अभी पूरा नहीं हुआ है—१९६५ में वह ६० साल पूरे करेगा—और दूसरी ओर उसके अपने ही दर्शन के अनुसार संघर्ष (Conflict) सत्ता का आवश्यक गुण है। इसलिए परस्परविरोध भी कुछ अंश तक आवश्यक हो सकता है, या इसके बाद ही सम्भवतः वह पूर्ण वस्तु प्रकट हो जिसमें विचार के सभी पक्ष समंजस की स्थिति को प्राप्त कर सकें। सन् १९६० में प्रकाशित उसके नये ग्रन्थ 'क्रिटीक आव दि डायलेक्टिकल रीज़न', प्रथम खण्ड, से यह समंजस होता प्रतीत होता है। इसमें उसने मार्क्सवाद को एक नया रूप देने की चेष्टा की है और उसे ऐतिहासिक पूर्वनिश्चय के सिद्धान्त से मुक्त कर चयन की स्वतन्त्रता प्रदान की है। इसे 'अस्तित्व-वादी मार्क्सवाद' कह सकते हैं। वास्तव में मार्क्सवाद या साम्यवाद का विरोध उसमें निहित कठोर नियन्त्रण और व्यक्ति को परतन्त्रता के कारण हो किया गया। दलित और दरिद्र को ऊंचा उठाने के उसके उद्देश्य और प्रयत्न को अभी भी स्वीकार किया जाता है। स्वयं सार्त्र की मान्यता भी यही रही है और जीवन भर वह शायद इसीलिए मार्क्सवादी बना रहा। कामू, पौंटी आदि उसके साथी जहां इसी प्रश्न पर उसके विरोधी हो गए, वह रोशनी की इस किरण से चिपका रहा और अब उसे एक नई व्याख्या तथा एक नया रूप देने का प्रयत्न कर रहा है। इस ग्रन्थ के अगले खण्ड बताएँगे कि वह अपने कार्य में कहां तक सफल होता है। दूसरे खण्ड में वह विश्व इतिहास की व्याख्या करके यह बताएगा कि समग्र मानवता का अन्तरंग सत्य एक ही है। एक बात में तो वह सम्भवतः अभी ही सफल हो गया है—कि उसने सत्ता या मानवी सम्बन्धों के संघर्ष का कारण खोज

निकाला है। वह कहता है कि यह संघर्ष भोजन या अन्य आवश्यक वस्तुओं की न्यूनता और अभाव के कारण उत्पन्न होता है। जहां यह अभाव कम होता है या नहीं होता, वहां संघर्ष भी कम होता है या नहीं होता—उसके स्थान पर सच्चा प्रेम, सहयोग आदि उत्पन्न होता है। शायद यह बात बहुत हद तक सच है। अतः संघर्ष नष्ट करने के लिए वस्तुओं का अभाव नष्ट करना चाहिए।

● ● ●

वैसे सार्त्र की पहली प्रमुख रचना उसका उपन्यास 'नौसिया' (Nausea) है जिसमें अत्यन्त सफलतापूर्वक अस्तित्ववादी दर्शन को व्यक्त किया गया है। इसमें रॉक्वेन्टिन नामक एक व्यक्ति की डायरी है जो अठारहवीं शताब्दी के एक मार्क्विस का जीवन-चरित्र लिखने में लगा है। तीसवर्षीय रॉक्वेन्टिन का न कोई परिवार है, न मित्र, और न उसके पास कोई निश्चित काम-धंधा है। पर व्यक्तिगत साधनों से उसे कुछ आय होती रहती है, और उसे किसी पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वतन्त्र व्यक्ति है। जहाँ चाहे घूम-फिर सकता है, जो चाहे कर सकता है। परन्तु अपनी इस स्वतन्त्रता से वह सुखी नहीं है। उसका यौन-जीवन भी उत्साहरहित है। वह बड़ी घुटन महसूस करता है और चिन्ताओं से त्रस्त रहता है। सब तरह की स्नायविक दुर्बलताएँ उसे सताती हैं।

रॉक्वेन्टिन वर्तमान युग के मनुष्य का प्रतिनिधि है। संसार उसके लिए असह्य हो उठा है। परन्तु इस सम्पूर्ण कष्ट तथा क्लेश में वह अपनी सत्ता की गहराइयों या उसके सच्चे रूप को समझ लेता है। कष्ट की सब अनुभूतियां उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता की सूचक है, मनोवैज्ञानिक संकट के लक्षण उतनी नहीं हैं। इनके कारण वह सत्ता के भीतर प्रवेश पाने में समर्थ होता है। वह प्रत्येक वस्तु को जीवित महसूस करता है, जैसे वे सब उसे छू रही हों। भौतिक पदार्थ उसे चिपचिपे और लेसदार से प्रतीत होते हैं। इस कारण उसे मतली या उबकाई (Nausea) सी आती रहती है। मतली की चरमावस्था में वह अनुभव करता है कि सृष्टि की योजना में किसी भी वस्तु—और मनुष्य—की सत्ता 'आवश्यक' नहीं है, यह मात्र 'आनुषंगिक' है और इसका स्पर्श गोंद जैसा लिबलिबा है। इस तथ्य से उसे बड़ी परेशानी होती है, परन्तु वह इससे भाग नहीं सकता।

वास्तव में यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। सामान्यतया सृष्टि को एक सुगठित और सुव्यवस्थित वस्तु माना जाता है जिसमें प्रत्येक प्राणी एक दूसरे के लिए आवश्यक, प्रकृति की हर वस्तु और घटना परस्पर पूरक और सामंजस्यपूर्ण तथा मनुष्य का जीवन बड़ा उन्नत और उपयोगी है। इस सब को चलाने वाला एक ईश्वर भी माना जाता है जो बड़ी योग्यता और कुशलता से अपना कार्य कर रहा है। यदि यह सच है तो संसार में इतने कष्ट, संघर्ष और क्लेश क्यों हैं? अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न का उत्तर दिया है, कई ने ईश्वर को मार ही डाला है, परन्तु सार्त्र का उत्तर सबसे अनोखा है। वह कहता है कि जीवन तथा उसकी सत्ता आवश्यक न होकर आनुषंगिक (Contingent) है, इसलिए सृष्टि में उसकी सुरक्षा भी निश्चित नहीं है। प्रत्यक्षतः यह बात सत्य लगतो है और बड़ो भयकर प्रतीत होती है। इसे नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करते हुए सार्त्र कहता है कि 'यदि यह ठोक हो तो मेरी जीभ कनखजूरे में परिवर्तित हो सकती है।' तात्पर्य यह कि सृष्टि के निश्चित नियम न होने के कारण कुछ भी घटित हो सकता है।

इस सब में सार्त्र ईश्वर का नकार तो करता है परन्तु उसकी आवश्यकता को बड़ी तीव्रता से महसूस करता है। ईश्वर को तर्क से काटते हुए भी जैसे वह उसके बिना रह नहीं सकता। यह तर्क की विरोधी और भावप्रवणता के बहुत समीप की बात है। यह सच है कि अस्तित्व-वाद आरम्भ से ही रोमांटिकता से सम्बन्धित रहा है और वह पूर्णतः तटस्थ होकर विचार नहीं कर पाता। एक आलोचक ने अस्तित्ववाद के अनीश्वरत्व को 'ईश्वरहीन ईश्वरीयता' कहा है : 'ऐसा ईश्वर जो आस्था के रूप में न होकर भी अस्थिरता के स्रोत के रूप में विद्यमान है—जिसकी सत्ता एक विशेष प्रकार के सन्देहों से पुष्ट होती है।'

सत्ता की आनुषंगिकता से सार्त्र यह परिणाम निकालता है कि विश्व में सब स्वतन्त्र हैं, मनुष्य भी स्वतन्त्र है। यह बात भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नियति और भाग्य भी कुछ नहीं है और मनुष्य स्वतः अपने लिए जिम्मेदार है। वह मशीन का पुर्जा नहीं है, खुद अपने भाग्य का विधाता है। इसलिए मनुष्य को जिम्मेदार होना चाहिए और जो जिम्मेदारी को स्वीकार नहीं करते, वे दोषी हैं। सार्त्र कहता है कि नियति या प्रकृति किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन का कारण और उद्देश्य नहीं प्रदान करती, यह उसे स्वयं ही ढूंढना होता

है। 'नौसिया' का नायक जब यह समझ लेता है, तब तय करता है कि रचनात्मक साहित्य के प्रणयन में वह अपने जीवन का कारण और उद्देश्य प्राप्त करेगा। साहित्य से ही उसे मुक्ति प्राप्त होगी।

इस उपन्यास ने अस्तित्ववादी विचारकों में सार्त्र का सिक्का बिठा दिया। तब उसकी अवस्था केवल ३३ वर्ष की थी। इन्हीं दिनों उसका एक कहानी-संग्रह भी निकला जिसकी अश्लीलता से लोग चकित रह गए। फिर उसने 'दि फ़्लाइज़' (मक्खियां) नामक एक नाटक लिखा। इन दिनों फ़्रांस पर नाज़ियों का अधिकार था और फ्रेंच साहित्यिक सुप्रसिद्ध प्रतिरोध आन्दोलन चला रहे थे। प्रत्येक नई रचना की कड़ी जाँच होती थी। नाटक को खेलने की अनुमति तो मिल गई परन्तु जब उसकी असलियत का पता चला, तो उसे रुकवा दिया गया। इसका नायक ओरेस्टेस जब बहुत दिन बाद घर लौटता है, तो पाता है कि उसकी माँ ने अपने प्रेमी से मिलकर राज्य पर अधिकार कर लिया है और उसके पिता को मार डाला है। सर्वत्र मक्खियां भिनभिना रही हैं। उसे देवताओं का आदेश होता है कि वह राज्य छोड़ दे, परन्तु वह ऐसा नहीं करता और अपनी माँ तथा उसके पति को मार डालता है।

इस नाटक में जहां एक ओर जर्मन अत्याचारियों और उनके सहयोगी फ्रेंच नेताओं को मारने का सदेश है, वहां दूसरी ओर अस्तित्व-वादी दर्शन की अभिव्यक्ति भी। नायक देवताओं से कहता है कि मैं तुम्हारे आदेश को स्वीकार नहीं करता। मनुष्य स्वतन्त्र है। इसलिए वह अपने नियम खुद बना सकता है। वह कहता है कि राजा और रानी को मारकर मैंने अपने इसी नैतिक नियम का पालन किया है। मनुष्य देवताओं से कम नहीं है। फिर वह यह भी कहता है: 'मनुष्य भी देवताओं की ही तरह अकेला है, दोनों की पीड़ा एक है।'

इसके बाद 'रोड्स टु फ्रीडम' के नाम से सार्त्र ने चार खण्डों का एक उपन्यास लिखना शुरू किया, जिसे वह पूरा नहीं कर सका। इसका नायक, मैथ्यू, स्वतन्त्रता की खोज में अपना सारा जीवन व्यर्थ कर देता है। अन्त में उसे यह स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, पर कहाँ?—उस गुंबज में जहां छिपकर वह जर्मनों को अपनी बन्दूक का निशाना बना रहा है—उसके अन्य साथी चुप बैठे सन्धि की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैथ्यू के जीवन के अन्तिम क्षण जर्मनों को मारते हुए व्यतीत होते है और इस क्रूर कृत्य से उसे अपरिमित प्रसन्नता होती है। उसे अनुभव होता है कि उसने सच्ची स्वतन्त्रता को पा लिया है।

परन्तु यहां सार्त्रे का असली अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। क्या आतंक ही स्वतन्त्रता है ? शायद फ्रांस की पराजय के उन काले दिनों में दुर्बलता के नाश का यही उपाय रहा हो। अतः युद्ध काल के लिए यह दर्शन मान्य हो सकता है, अन्य सब कालों या सामान्य काल के लिए नहीं। परन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्त्रे के जीवन-दर्शन में हिंसा को स्थान है। उसके बाद के नाटकों में भी राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिंसा तथा अन्य कुकृत्य कराए गए हैं और उनका समर्थन किया गया है। यहां यह दृष्टव्य है कि कामू ने इसके विपरीत अहिंसा का समर्थन किया है। सार्त्रे कहता है कि मानवतावादी राजनीति को अहिंसा की नैतिकता का इसलिए परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि अहिंसा का सम्बन्ध वास्तविक जीवन तथा उसकी समस्याओं से न होकर धर्म, चिन्तन तथा लोकोत्तर जीवन से है। राजनीति इस संसार की वस्तु है और संसार बहुत दोषपूर्ण है। अतः दोष को दोष ही काट सकता है।

सार्त्रे के आचार-शास्त्र में ध्वंस और नाश को पूरा स्थान प्राप्त है। इसका कारण सम्भवतः उसका अंशतः मार्क्सवादी होना है। दार्शनिक होते हुए भी सार्त्रे जनता के कष्टों को बड़ी तीव्रता से महसूस करता है और हर समस्या पर लड़ने के लिए आ खड़ा होता है। यह एक बड़ी बात है। सन् १९४६ में उसने अपने ढंग के मार्क्सवाद का प्रचार करने के लिए एक पत्रिका निकालना शुरू किया और दो साल बाद एक संस्था भी स्थापित की। पर यह सब बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा, मजदूरों में इसका कोई प्रचार नहीं हो सका, इसलिए उसने फिर इन्हें बन्द कर दिया। इसके बाद उसने यही निश्चय किया कि कम्युनिस्ट पार्टी के साथ रहकर ही काम करना चाहिए और उसे ही अपने ढग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। व्यावहारिकता का यह उदाहरण अच्छा है। अतः उसने अपने सब मित्रों को छोड़ दिया और पार्टी के साथ हो गया। सोवियत रूस ने अपने यहां बुलाकर उसकी खातिर भी की। इस सबसे प्रकट है कि सार्त्रे के अस्तित्ववाद में समाज की ठोस भलाई का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह जहां व्यक्ति को अपने प्रति पूरी तरह ईमानदार बनाना चाहता है, उसे अपने जीवन तथा मूल्यों का निर्माता बनाना चाहता है—भले ही ये मूल्य कितने भी नए क्यों न हों—वहां वह उसे समाज का क्रियाशील हितचिन्तक और उसके लिए लड़ने वाला सैनिक भी बनाना चाहता है। सार्त्रे में विचार और आचार एक दूसरे से घनिष्ट रूप में आबद्ध हैं।

सार्त्र विचार की अपेक्षा आचार को अधिक महत्त्व देता है। उसके नाटक, 'नो एक्ज़िट', से यह स्पष्ट है। इसमें तीन चरित्र हैं—दो स्त्रियां और एक पुरुष। ये तीनों नरक भोग कर रहे हैं। पर इनका नरक अपने ही कारण है, कोई दूसरा इन्हें कष्ट नहीं देता। बड़ी उम्र की स्त्री, इनेस, छोटी उम्र की एस्टेला को समलिंगी ढंग से प्यार करती है परन्तु एस्टेला उससे नफरत करती है और पुरुष, गार्सिन, को चाहती है। पर गार्सिन उसे न चाहकर इनेस को चाहता है और इनेस उससे दूर भागती है। इस्टेला और गार्सिन अपने नरक आने का कारण छिपाते हैं, पर इनेस नहीं छिपाती। आखिरकार गार्सिन को अपनी दुर्बलताएँ बतानी ही पड़ती हैं। पर वह कहता है कि भले ही मैंने कार्य दब्बूपन के किए हों, मेरी आत्मा या प्रकृति वीर है। इनेस हँसकर उसे बताती है कि मनुष्य जो करता है, वही होता है। गार्सिन कायर ही है क्योंकि उसके काम कायरता के रहे हैं। इस तरह सार्त्र जहां यह बताता है कि हम खुद अपने नरक हैं, वहाँ वह यह भी बताता है कि मनुष्य के लिए कार्य प्रमुख है, विचार नहीं। यह नई और महत्त्वपूर्ण बात है। अपने परिप्रेक्ष्य में वह सच भी लगती है।

● ● ●

शुद्ध दर्शन के क्षेत्र में सार्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'बींग एंड नथिंगनेस'। द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में इसका प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ का बेहद प्रचार हुआ और इसने अस्तित्ववाद को फ्रांस के बुद्धिजीवियों का फैशन बना दिया। इसमें सार्त्र सत्ता के प्रश्न को नई दृष्टि से देखता है। अनुभववादियों की तरह वह यह नहीं मानता कि चूंकि मैं खुद अपनी सत्ता का अनुभव करता हूँ, इसलिए 'मैं' हूँ। इसके विपरीत वह यह कहता है कि मेरी सत्ता इसलिए है क्योंकि दूसरे मेरा अनुभव करते हैं। संसार के अन्य व्यक्ति मुझे देखते हैं, मेरा व्यवहार देखते हैं और उनको देखकर ही मैं अपने को देख पाता हूँ, अपनी सत्ता का अनुभव कर पाता हूँ। उन दूसरों के कारण और द्वारा ही मेरी सत्ता है।

सार्त्र कहता है कि इसी तरह उस दूसरे या उन दूसरों की सत्ता भी मेरे कारण है। हम सब एक दूसरे की 'दृष्टि' के माध्यम से अपना अनुभव करते हैं। इस 'दृष्टि' को सार्त्र बहुत महत्त्व देता है। दूसरे की दृष्टि मेरे भीतर प्रवेश करके एक विशेष प्रकार का ठोस स्वरूप ग्रहण कर लेती है और उससे मुझे अपनी सत्ता का बोध होता है।

पर इस कारण मेरी स्वतन्त्रता भी कुछ अंशों में छिन जाती है। इसी तरह उस दूसरे या दूसरों की स्वतन्त्रता भी छिन जाती है। यानी हम दोनों या हम सब अपने भीतर ही एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। पर इसी कारण हम में पारस्परिक संघर्ष (Conflict) भी उत्पन्न होता है। इस संघर्ष की अभिव्यक्ति 'शर्म' के भाव में होती है। 'शर्म' के ही कारण हम एक दूसरे को स्वीकार करते हैं। यदि संसार में मेरे अलावा कोई और न होता, तो मेरे किसी भी काम को कौन देखता और मुझे शर्म भी क्यों लगती ? पर तब मैं अपनी सत्ता का अनुभव ही नहीं कर पाता।

लज्जा के इस पारस्परिक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति, सार्त्र के अनुसार दो प्रकार के यौनाचार में होती है : आत्मपीड़क यौन सम्बन्ध (Masochism) और परपीड़क यौन सम्बन्ध (Sadism)। पहले में व्यक्ति दूसरे के सामने बिलकुल झुक जाता है और अपनी स्वतन्त्रता उसे दे देता है, दूसरे में वह अपने साथी को झुका लेता है और स्वतन्त्रता छीन लेता है। इस तरह प्रेम सम्बन्ध भी एक प्रकार का संघर्ष ही है और शुद्ध प्रेम की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। मेरा तुम्हें प्यार करने का यही अर्थ है कि मैं अपने लिए तुम्हारा प्यार चाहता हूँ। इसके विपरीत तुम्हारा प्रेम भी इसलिए है कि मैं तुम को प्यार करूँ, अतः ये प्रेम कभी सफल नहीं हो सकते। इसके उद्योग में हम चाहे जितना एक दूसरे में प्रविष्ट हों, परिणाम निराशा ही होगा। इस निराशा से दुःखी होकर भी मनुष्य आत्मपीड़क यौन सम्बन्ध (Masochism) की ओर झुकता है। यौनेच्छा को भी सार्त्र केवल शरीर-सम्बन्ध की इच्छा नहीं मानता, उस चेतना को प्राप्त करने की इच्छा मानता है जो इच्छित शरीर को अर्थ और एकता प्रदान करती है। वह कहता है कि यह इच्छा भी पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि इच्छा की तुष्टि से उसे सुख प्राप्त होता है, और सुख इच्छा की मृत्यु है।

सार्त्र सम्भवतः पहला दार्शनिक है जिसने प्रेम तथा यौन सम्बन्धों की कोई दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इससे लोग असहमत हो सकते हैं, परन्तु यौन व्यापार जीवन का एक महत्वपूर्ण और प्रबल अंग है, अतः इससे विरत होना सम्भवतः उचित नहीं। इस समस्या को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में सही सही समझने का प्रयत्न अत्यावश्यक और सराहनीय है। इससे ही इस समस्या की विविध उलझनों का,

जिनमें मनुष्य आज बुरी तरह फँसा हुआ है और जो सब इसीलिए साहित्य में भी अभिव्यक्त होने लगी हैं, हल हो सकेगा।

सार्त्र प्रेम और मित्रता के सहज सम्बन्धों को भी स्वीकार करता है। परन्तु वह कहता है कि ऐसे सम्बन्धों से व्यक्ति को अपनी सत्ता का बोध नहीं होता, क्योंकि वह तो संघर्ष के कारण ही प्रकट हो पाती है। संघर्ष को भी वह नितान्त आवश्यक नहीं मानता। 'एक्ज़िस्टेन्शलिज़्म एंड ह्यूमेनिज़्म' में उसने कहा है कि हमें अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ ही दूसरों की स्वतन्त्रता का भी आदर करना चाहिए। कुछ लोग उसकी इस मान्यता को उसके संघर्ष-सिद्धान्त का विरोधी मानते हैं परन्तु सार्त्र खुद इसे अपने संघर्ष-सिद्धान्त की 'सार्वजनीन' व्याख्या मानता है। जो भी हो, वह इससे मनुष्य-मनुष्य के भाईचारे का मार्ग खोल देता है। अपने दार्शनिक क्रियाकलाप के दूसरे अध्याय में वह अब इस मानवतावादी और समाजवादी व्यवस्था को ही रूप देने की चेष्टा कर रहा है।

● ● ●

विचार के धनी इस प्रतिभा-पुत्र का जन्म सन् १९०५ में पेरिस में हुआ था। पर उसकी माँ जर्मन थी और नाना थे सुप्रसिद्ध अल्बर्ट श्वीत्ज़र के एक पुरखे। वे जर्मन भाषा के प्रोफेसर थे और उन्हीं के घर में सार्त्र का बचपन बीता। जब वह दो वर्ष का था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गई। पर जब वह ग्यारह वर्ष का हुआ, तब उसकी माता ने दूसरी शादी कर ली और सार्त्र को अपने सौतेले पिता के साथ रहने आना पड़ा। १३ वर्ष की अवस्था में उसे अपनी शिक्षा पूर्ण करने पेरिस भेजा गया। दर्शन में उसने विशेष योग्यता अर्जित की और सर्वप्रथम रहा। द्वितीय रहने वाली थी एक छात्रा, सिमोने दे ब्यूवॉय, जिसके साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह छात्रा भी आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की लेखिका बनी।

साम्यवादी प्रभाव के कारण ये विवाह को 'बूर्जुआ' मानते थे। इसलिए इन्होंने विवाह तो नहीं किया, पर साथ अब तक रहते आ रहे हैं। ब्युवॉय बच्चे पैदा करने से नफरत करती थी और घरेलू औरत का जीवन बिताना नहीं चाहती थी। वैसे वह सार्त्र की अपेक्षा लम्बी और सशक्त है और उसकी बौद्धिकता भी विलक्षण है। नारी हृदय और सम्बन्धों का उसने बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है। दोनों ने मिलकर रेस्त्राँ में

खाने और होटलों में सोने की जिंदगी स्वीकार की और बिस्तर लटकाये सारे यूरोप में घूमते फिरे।

शिक्षा पूरी करके सार्त्र दर्शन का अध्यापक हो गया परन्तु उसे नौकरियाँ कस्बों में ही मिलीं। लड़ाई शुरू होने पर उसे सेना में जाना पड़ा पर दृष्टि दुर्बल होने के कारण उसे मोर्चे पर लड़ने नहीं भेजा गया और क्लर्क का साधारण कार्य ही दिया गया। युद्ध से पूर्व उसे एक साल बर्लिन में रहने का अवसर मिला। यह समय उसने हीडेगर, यास्पर्स आदि अस्तित्ववादी जर्मन दार्शनिकों का अध्ययन करने में बिताया। साहित्य में भी उसे रुचि थी और साहित्य के माध्यम से दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने की कला पर उसने विशेष ध्यान दिया।

शीघ्र ही उसने लिखना आरम्भ कर दिया। पहले उसने अस्तित्ववाद के दर्शन पर कुछ सामान्य ग्रन्थ लिखे, फिर अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'नौसिया' लिखा। इसके प्रकाशित होते ही चारों ओर उसकी पूछ होने लगी। इस उपन्यास के नायक को उसने तरह तरह के भयों से ग्रस्त दिखाया है। सच यह है कि उसे खुद भयंकर स्वप्न सताया करते थे और उसे लगता था कि केकड़े उसका पीछा कर रहे हैं। पर शीघ्र ही उसने इन सब बातों पर विजय पा ली।

सम्भवतः इस सफलता के कारण ही उसकी नियुक्ति पेरिस के समीपस्थ एक स्थान में हो गई और वह पेरिस में आकर रहने लगा। युद्ध के समय उसे जो काम मिला, वह इतना मामूली था कि वह बहुत से खाली समय में अपना उपन्यास लिखता रहता था। नाज़ियों के आगे बढ़ने पर, सन् १९४० में, उसे बन्दी बना लिया गया परन्तु मेडिकल परीक्षा के समय उसने कुछ ऐसी तिकड़म की कि वह छोड़ दिया गया। छूटकर वह पेरिस लौट आया और मार्क्सवाद आदि की गोष्ठियाँ करता रहा। अब उसने नाटक लिखना भी शुरू किया। 'दि फ्लाइज़' नामक नाटक उसने एक विशेष प्रदर्शक के लिए लिखा पर प्रदर्शक ने यह नाटक लेने से इनकार कर दिया। तब नाटक एक अन्य प्रदर्शक के पास ले जाया गया, जिसने एक विशेष घटना के कारण इसे लेना और खेलना स्वीकार कर लिया। नेरन नामक एक करोड़पति ने प्रदर्शक से कहा कि मैं इसका खर्च दूंगा। बाद में पता चला कि नेरन के पास धेला भी नहीं है, परन्तु तब तक प्रदर्शक इसकी तैयारी में इतना आगे बढ़ चुका था कि उसे छोड़

नहीं सकता था। नाटक सफल रहा परन्तु शीघ्र ही उस पर रोक लगा दी गई।

युद्ध के बाद उसके और सब ग्रन्थ निकले जिनकी चर्चा की जा चुकी है। उसने दो जीवनियां भी लिखीं—बादलेयर तथा सेंट जेनेट की—जो इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उसने इन दोनों के पथभ्रष्ट तथा अपराधी होने के मनोवैज्ञानिक कारण प्रस्तुत किये हैं और उनके जीवन की अस्तित्ववादी व्याख्या की है। ऐसे ही व्यक्तियों को वह युग के जीवन की प्रतिनिधि अभिव्यक्तियां मानता है।

इस समय वह मार्क्सवादी दर्शन और समाज-व्यवस्था के दोषों को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है। वह इसमें कहां तक सफल होगा, यह भविष्य ही बताएगा। ●

ह्वाइटहेड
१८६१–१९४७

ह्वाइटहेड के अंगांगिवाद (Organism) को १९वीं शताब्दी की सर्वोपरि दार्शनिक उपलब्धि माना जाता है। कहा जाता है कि उससे जितना लाभ हम नहीं उठा रहे, उतना आगामी शताब्दियाँ उठाएँगीं। परन्तु उसका दर्शन इतना जटिल है कि आसानी से समझ में नहीं आता। कांट की तरह उसने भी सूक्ष्म गणित की सहायता से विषयों की मीमांसा की है और नए नए शब्दों को गढ़कर तथा पुराने शब्दों को नए अर्थों में प्रयुक्त करके उसे बेहद कठिन बना दिया है। इसके अलावा उसने विज्ञान की नवीनतम शोधों के आधार पर ही अपनी समस्त चिन्ता का महल खड़ा किया है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान के प्रति इस युग में तीव्र आकर्षण न होता, तो सम्भवतः उसके चिन्तन की ओर कोई ध्यान भी न देता और उसकी सब किताबें लिखी की लिखी ही रह जातीं। रसेल के साथ 'प्रिंसिपिया मैथमैटिका' लिखकर भी उसने काफी ख्याति अर्जित कर ली थी, जिससे लोगों को उसके परवर्ती लेखन की ओर ध्यान देना ही पड़ा।

अन्य दर्शनों से ह्वाइटहेड का दर्शन अपने मौलिक आधारों में ही भिन्न है। यह सापेक्षता सिद्धान्त तथा आणविक भौतिकी पर आधारित प्रकृति की कल्पना को अपने चिन्तन का आरम्भ विन्दु मानता है। पहली बात वह यह कहता है कि हमें स्थिर या अर्ध-स्थिर विश्व की धारणा के स्थान पर गतिशील विश्व की धारणा स्वीकार करनी चाहिए। अब तक यह माना जाता था कि विश्व अणुसदृश ऐसे तत्वों से बना है जो अपने बाह्य सम्बन्धों में तो परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु भीतर से ज्यों के त्यों बने रहते हैं। विज्ञान की नई शोधों ने इसे गलत साबित कर दिया

है। इसलिए हमारे दार्शनिक विचारों में भी तदनुरूप परिवर्तन होना चाहिए।

इस दृष्टि से पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ अब तक अणुओं को अन्तिम तत्त्व माना जाता था, वहाँ अब इलेक्ट्रन तथा प्रोटन को अन्तिम तत्त्व माना जाने लगा है। ये इलेक्ट्रन तथा प्रोटन अणुओं की तरह ठोस पदार्थ नहीं हैं—वे चाहे जितने भी लघु क्यों न हों—जो आकाश में स्थान घेरते हैं; ये विद्युत् शक्ति के रूप हैं और देश में स्थान नहीं घेरते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थ मूलतः शक्ति है और शक्ति अनवरत क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस धारणा के आधार पर प्रकृति की जो कल्पना की जायगी, वह गतिशील ही होगी तथा शक्ति, क्रिया और गति की ही परिभाषा में उसे समझने का प्रयत्न करना होगा। निश्चय ही यह एक बड़ी क्रान्तिकारी बात है। इससे चिन्तन का सम्पूर्ण ढाँचा ही बदल जाता है और मुख्य बात यह सामने आती है कि सूक्ष्म जगत् के चिन्तन में बिलकुल नीचे उतर जाने पर ठोस पदार्थ जरा भी शेष नहीं रहता, शक्ति और गति ही शेष रहती है। इसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि संसार की किसी भी वस्तु को अन्य सब वस्तुओं से पूर्णतः अलग-थलग तथा अपनी सुनिश्चित सीमाओं में बन्द नहीं माना जा सकता। इसका तात्पर्य यह भी है कि संसार की हर वस्तु अन्य सब वस्तुओं से उसी तरह सम्बद्ध है, जैसे समुद्र की लहरें एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं। यानी यह विश्व एक तरल पदार्थ है और इसकी सब वस्तुएँ एक दूसरे से घनिष्टतः आबद्ध हैं।

इस दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि, जैसा आइंस्टीन आदि की शोधों ने प्रमाणित किया है, देश और काल स्वतन्त्र तथा अन्तिम तत्त्व न होकर सापेक्ष और परस्पर-निर्भर हैं। देश के बिना काल का ज्ञान नहीं हो सकता और देश को नापने के लिए काल का अध्ययन आवश्यक है। इनकी अभिन्नता से चतुःआयामी देश-काल की धारणा बनती है। अब तक काल का एक आयाम और देश के तीन आयाम, जो दोनों पृथक् हैं, माने जाते रहे है। ह्वाइटहेड उन्हें संयुक्त कर देता है। पर साथ ही वह यह भी कहता है कि, जिस तरह वस्तुएँ अन्ततः शक्ति और क्रिया मात्र रह जाती हैं, उसी तरह देश और काल भी शक्ति तथा क्रिया से अधिक कुछ नहीं हैं। इस प्रकार मौलिक तत्त्व शक्ति और क्रिया ही है।

परन्तु इसका एक मनोरंजक निष्कर्ष यह है कि देश और काल एक नहीं हैं, वे अनेक हैं, अथवा देश-काल अनेक हैं। यह इस तरह कि देश विभिन्न समसामयिक प्रक्रियाओं के क्रम या सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ नहीं है और काल विभिन्न असमसामयिक या क्रमशः घटित होने वाली घटनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तथा जो घटनाएँ किसी एक दृष्टि-कोण से किसी दर्शक को समसामयिक या असमसामयिक प्रतीत होती हैं, वे ही घटनाएँ किसी दूसरे दर्शक को किसी दूसरे दृष्टिकोण से भिन्न प्रतीत हो सकती हैं। हमें आसमान में बहुत से सितारे दिखाई देते हैं। इन सब का प्रकाश विभिन्न समयों में हम तक पहुँचता है। यदि हम इस बात का विचार करें तो हमें प्रतीत होगा कि जो सितारे हमें इस समय यहाँ से समसामयिक दिखाई देते है, वे ही किसी अन्य ग्रह के दर्शक को भिन्न स्थिति में दिखाई देंगे। आज हमें कोई तारा जैसा दिखाई देता है, किसी अन्य दर्शक को वैसा ही वह दस साल बाद या पहले दिखाई देगा। संसार की अन्य सब घटनाओं के सम्बन्ध में भी यही होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितने दर्शक हों, उतने ही देश-काल भी होंगे या जितने दृष्टि-कोण अथवा वस्तुओं को अनुभव करने के प्रकार हों, उतने ही देश-काल होंगे।

परन्तु इन्द्रियों की सहायता से हमें संसार जैसा दिखाई देता है, वह इससे बहुत भिन्न है। यह एक कठिनाई है जिसका स्पष्टीकरण किए बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता। ह्वाइटहेड ने इसे स्वीकार किया और कहा कि इन्द्रियगोचर जगत् पर आधारित ज्ञान मीमांसा का शास्त्र कुछ भूलें कर बैठा है, यदि उनको दूर कर दिया जाए तो वह विज्ञानसम्मत जगत् का विरोधी नहीं लगेगा। इसलिए वह मीमांसा का सुधार करता है और पहली बात यह कहता है कि द्वैत गलत है। प्रकृति का वास्तविक रूप और दिखाई देने वाला रूप दो वस्तुएँ नहीं है, वे एक ही हैं। जैसे यह मानना कि वस्तुओं में हमें जो रंग दिखाई देते हैं, वे उनके अपने नहीं होते बल्कि नेत्रों से उनके रूप के टकराने के कारण उत्पन्न होते हैं; यानी रंग, बू, ध्वनि आदि असली नहीं हैं, असली वस्तु केवल विद्युत् शक्ति ही है। नहीं, दोनों असली हैं। ह्वाइटहेड प्रकृति को इस तरह टुकड़ों में बाँटने का विरोध करता है और कहता है कि यदि हम इन्द्रियानुभव पर अविश्वास करेंगे, तो हमें अपने शरीर, मस्तिष्क आदि पर भी, जिनके कारण इंद्रियानुभव होते हैं, अविश्वास हो सकता है। वस्तुतः दोनों

अभिन्न हैं और भले ही रंग 'क्या' है, इस प्रश्न का उत्तर मिल जाए, और रंग 'क्यों' है, इसका न मिले, पर दोनों की एकता नष्ट नहीं होती।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मस्तिष्क क्रियाहीन सर्चलाइट की तरह है जो वस्तुओं को प्रकाशित करता है। वह खुद भी वस्तुओं को रूप देता है और तब उन्हें अनुभव करता है। प्रकृति इंद्रियों के द्वारा मस्तिष्क में प्रवेश करती है और उसके अपने अनुसार अनुभूत होकर बाहर निकल जाती है। इसलिए प्रत्येक इंद्रियानुभव में निर्णायक वस्तुएँ तीन होती हैं—काल और देश में अनुभवकर्ता की स्थिति, अनुभवकर्त्री इन्द्रियों का स्वरूप और व्यक्ति के अब तक संचित विचार।

इसी तरह दृश्य पदार्थ और द्रष्टा भी दो और परस्पर स्वतन्त्र नहीं हैं। विषय और वस्तु में संसार का विभाजन गलत है। द्रष्टा दृश्यजगत् का ही एक भाग है। इसलिए जगत् की उसकी अनुभूति स्वयं जगत् के ही एक भाग द्वारा उसकी अनुभूति है। ऐसी प्रत्येक अनुभूति को सम्पूर्ण जगत् के व्यवस्थित दर्शन मे योगदान करने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान प्रकृति और जगत् सम्बन्धी हमारे दर्शन का आधार तो है, परन्तु हमें पग पग पर उसका विवेचन करके गलत धारणाओं से उसे मुक्त करते रहना चाहिए और प्रकृति के अपने पूर्णानुभव से उसकी संगति बिठाते रहना चाहिए।

ज्ञान क्या है? साधारणतया ज्ञान को एक निष्क्रिय सत्ता माना जाता है। परन्तु उपरोक्त परिस्थिति के अनुसार ज्ञान वह है जो प्रकृति के एक भाग के उसके शेष भाग से टकराने पर उत्पन्न होता है। अतः, ह्वाइटहेड इसे पूर्ण और अंश का क्रियात्मक सम्बन्ध मानता है और सब प्रकार के ज्ञान को मूलतः आत्मज्ञान ही कहता है। इसीलिए इंद्रियानुभव में वह अनुभूत वस्तु के साथ साथ अनुभवकर्ता को भी महत्त्व देता है। जैसे यदि आँख किसी वस्तु को देखती है, तो वस्तु के साथ साथ आँख की अपनी आन्तरिक क्रिया का भी महत्त्व उतना ही या उससे अधिक है। अतः यदि आँख, कान, शरीर, मस्तिष्क आदि की उपेक्षा की जाएगी तो प्रकृति के साथ अनुभवकर्ता के घनिष्ट और प्रवाहमय सम्बन्ध की भी उपेक्षा हो जाएगी, जो ठीक नहीं है।

यहां ह्वाइटहेड एक और महत्त्वपूर्ण बात कहता है। साधारणतया जगत् के अनुभव में अन्य इंद्रियों से उपलब्ध ज्ञान की अपेक्षा आँखों से प्राप्त ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस ज्ञान से अनुभवकर्ता

और जगत् के मध्य एक खाई सी प्रतीत होती है, क्योंकि नेत्र से प्राप्त ज्ञान स्थिर प्रकार का होता है—उसमें सब वस्तुएँ एक स्थान पर ठहरी सी प्रतीत होती हैं। यह ठीक नहीं है। और चूंकि विकास-क्रम में दृष्टि सबसे बाद में उत्पन्न हुई है, इसलिए उसको महत्त्व भी कम दिया जाना चाहिए। यह जीवन के व्यवहार के लिए बहुत उपयोगी होते हुए भी उसकी वास्तविकता पर सबसे कम प्रकाश डालती है। अतः अन्य इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान को ज्यादा महत्त्व देना उचित है। वह ज्ञान अत्यन्त क्रिया-शील प्रतीत होता है तथा उससे अनुभवकर्ता और जगत् के घनिष्ट सम्बन्ध का भी स्पष्ट बोध होता है। स्पर्श, घ्राण, स्वाद और ध्वनि से प्राप्त ज्ञान ऐसा ही है, जिसे अंधा व्यक्ति जान सकता है। वह सदा यह अनुभव करता है कि वह विश्व की शक्तियों के साथ साथ चल रहा है, उनसे अलग कहीं द्वीप के रूप में स्थिर नहीं है।

इसी तरह ह्वाइटहेड चेतना को मन का अनिवार्य गुण नहीं मानता और न यह मानता है कि सभी अनुभव चेतनापूर्ण ही होते हैं। चेतना मन की वह उच्चतम अवस्था है जो उसे कभी कभी ही प्राप्त होती है। अनुभव या भावना का सहारा लेकर वह आग की लौ की तरह उठती है। जीवन मुख्यतः अचेतन है, उसमें जब मन उत्पन्न होता है, तो उसका भी बहुत सा भाग अचेतन ही रहता है। परन्तु सृष्टि मे जितना भी जीवन है, वह सभी अनुभव करता रहता है। इसी मे चेतना उत्पन्न होती है जो चिंतन और दर्शन का आधार बनती है। फिर इसीलिए दर्शन उस सब को छोड़ देता है जो अचेतन है, और इस तरह एक बड़ी गलती कर बैठता है। परन्तु उसे भावना और सहज ज्ञान की सहायता से अचेतन जगत् के अनुभव की भी छानबीन करना चाहिए।

● ● ●

इस प्रकार सही ढंग से ज्ञान और अनुभव को ग्रहण करने पर विश्व का जो स्वरूप बनता है, वह मूलतः गत्यात्मक और परस्पर-सम्बद्ध है। यह गति भी सभी पदार्थों में उसके सभी धरातलों पर पाई जाती है और एक दूसरे की गति से सम्बद्ध होती है। जीवित प्राणियों की गति अजीव पदार्थों की गति से भिन्न नहीं होती। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही रहता है और जीवित प्राणी अपनी गति को प्राप्त करने के लिए बहुत कुछ अजीवों पर निर्भर करते हैं। मनुष्य की आत्मा भी उसके शरीर तथा

बाह्य जगत् पर निर्भर करती है। आत्मा के सभी भाव तथा सुख दुःख बाह्य जगत् के प्रति अपनी प्रतिक्रिया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होते।

ह्वाइटहेड कहता है कि भौतिकी में जो वस्तु क्रियाशील शक्ति है, वही जीवित प्राणियों में भावनात्मक प्रबलता है। विकास के माध्यम से यह वहाँ तक पहुँची है। परन्तु विकासवादियों की प्रवृत्ति साधारणतया उच्चतर को निम्नतर के आधार पर समझने की रही है। वे जड़ के सहारे जीवन की व्याख्या करना उचित समझते हैं। परन्तु ह्वाइटहेड इसका विरोध करते हुए कहता है कि हमें उच्चतर के आधार पर निम्नतर को समझने की चेष्टा करना चाहिए। उसके अनुसार यह मानना अधिक सही है कि जड़ में जीवन तथा मन के कण छिपे हैं जो धीरे धीरे व्यक्त हो रहे हैं। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण है और 'रचनात्मक प्रगति' (Creative Advance) का सूत्र पकड़कर चलता है। क्रिया भले ही ऊपर से देखने पर अंधी और निरुद्देश्य प्रतीत होती हो, परन्तु वह वास्तव में ऐसी है नहीं। दर्शन का काम क्रिया के इसी अंधेपन को बेधना होता है। उसे विश्व का अर्थ, उद्देश्य तथा दिशा ढूढने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह उद्देश्य है 'रचनात्मकता' का, जो परम सिद्धान्त या सिद्धान्तों का सिद्धान्त है। यह 'रचनात्मकता' ही ह्वाइटहेड के दर्शन का आरम्भ-बिन्दु है।

अब इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन के सभी अनुभवों को समझने की चेष्टा करते हैं। ह्वाइटहेड इकाई के रूप में उन सूक्ष्म अनुभवों की कल्पना करता है जो हमें एक ही देश-काल में प्राप्त होते हैं। अनुभव की ऐसी 'बूंदों' से मिलकर अनुभव के 'समूह' बनते हैं। मेज़, कुर्सी या पेड़ का अनुभव 'समूह' अनुभव है जो बहुत से देश-कालों में फैला है। किसी रंग, या ध्वनि या कल्पना का अनुभव पहले प्रकार का अनुभव है—कुर्सी या मेज़ के सम्भव सूक्ष्मतम अंश का अनुभव भी ऐसा ही अनुभव है। इसे 'यथार्थ सत्ता' (Actual Entity) का नाम दिया गया है और अगणित 'यथार्थ सत्ताओं' से 'सामूहिक सत्ता' (Society of Entities) का, जो बुद्धिगम्य हो सके, निर्माण होता है। 'सामूहिक सत्ता' में परिवर्तन होता रहता है—जैसे काल के विभिन्न विन्दुओं पर विद्यमान रहने वाली मेज बदल सकती है—पर 'यथार्थ सत्ता' अपरिवर्तनीय है क्योंकि यह काल के एक ही बिन्दु पर रहती है और जन्मते ही मर जाती है, बनते ही नष्ट हो जाती है।

'यथार्थ सत्ता' यद्यपि क्षणिक होती है और उसे पूरी तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता, परन्तु विचार की सहायता से उसके निर्माता तत्त्वों का विश्लेषण अवश्य किया जा सकता है। पहला और मुख्य तत्त्व तो 'रचनात्मकता' ही है जो विद्यमान जगत् के तत्त्वों से उसका निर्माण करती है। संसार में रचनात्मकता की बनाई अगणित 'यथार्थ सत्ताएँ' पहले से ही होती हैं, जो सभी अपने-अपने प्रभाव देकर नई सत्ता को बनाती हैं। ह्वाइटहेड इस बात पर बल देता है कि सभी सत्ताएँ नई सत्ताओं को बनाने में योगदान करती हैं, ऐसा नहीं है कि केवल कुछ सत्ताएँ ही योगदान करती हों। अतः प्रत्येक सत्ता सम्पूर्ण जगत् को अभिव्यक्त करता है। परन्तु नई सत्ताएं 'नई' इसलिए होती हैं क्योंकि उनके निर्माण में पुरानी सत्ताएँ विभिन्न परिमाणों में योगदान करती हैं। यही रचनात्मकता है, जो नवीनता को उत्पन्न करती है। जिस शैली के द्वारा विश्व की विभिन्न सत्ताएँ एक नई सत्ता को जन्म देती हैं, उसे 'रचनात्मक संयोजन' (Creative Synthesis) कहते हैं।

चूंकि रचनात्मकता इस या उस सत्ता का निर्माण करने में चयन की स्वतन्त्रता का उपयोग करती है, इसलिए यह मानना उचित है कि निर्मित सत्ताओं के अतिरिक्त भी दूसरे प्रकार की सत्ताएं बनाई जा सकती है। इनको 'सम्भावित सत्ताएँ' (Potential Entities) या 'अनंत वस्तुएँ' (Eternal Objects) कहते है। 'अनंत वस्तुएँ' ठोस रूप धारण करें या न करें, यह रचनात्मकता पर निर्भर करता है, परन्तु रूप ग्रहण करने की पूरी सम्भावना उन्हें उपलब्ध होती है। ये वह साँचे है जिनमें रचनात्मकता सत्ताओं को ढलाई करती हैं। परन्तु चूंकि नई सत्ता दो प्रकार की होती है यानी वस्तुपरक (Objective) जैसे रंग, ध्वनि आदि और आत्मपरक (Subjective) जैसे सुख दुःख की भावनाएँ, इसलिए 'अनंत वस्तुएँ' भी दो प्रकार की ही होती हैं—वस्तुपरक और आत्मपरक। इससे प्रकट है कि यथार्थ सत्ता का निर्माण तभी होता है जब 'अनंत वस्तु' उसकी रचना में प्रवेश करे। प्रवेश की इस प्रक्रिया को ह्वाइटहेड ने 'प्रविशन' (Ingression) नाम दिया है।

यह हुआ वस्तुपरक रूप में सत्ताओं के निर्माण का विचार। अब ज़रा आत्मपरक रूप में भी उनके निर्माण को देखें क्योंकि इसके बिना, ह्वाइटहेड के दर्शनानुसार, यह विचार पूर्ण ही नहीं होगा। वह बल भी आत्मपरक ज्ञान पर ही देता है, वस्तुपरक ज्ञान पर उतना नहीं। उसके

लिए विश्व का उदय मूलतः अनुभव के माध्यम से ही है। अतः उसकी विभिन्न सत्ताएं भी उसी रूप में सत्य हैं, जहाँ वे किसी रंग, ध्वनि या भाव की अनुभूति देती हैं। यानी सत्ताएँ 'अनुभव के कण' हैं, उन्हें अनुभूति के द्वारा ग्रहण करके व्यक्तिगत 'तुष्टि' के सागर में समो लिया जाता है। यह 'तुष्टि' ही वह मूल्य है जिसकी प्राप्ति को प्रत्येक रचना का उद्देश्य कह सकते हैं। परन्तु कोई भी तुष्टि अन्तिम नहीं होती। चूंकि नई सत्ताएँ निरन्तर बनती रहती हैं, पुरानी पूर्ण होकर नष्ट होती जाती हैं, इसलिए तुष्टि भी मरती और खाली होती रहती है। पर सभी सत्ताएं आगामी सत्ताओं को अपना अंश देती रहती हैं, इसलिए वस्तुपरक रूप में सभी सत्ताएं अमर हैं।

प्रवाह और गति को इतना अधिक महत्व देने के कारण ह्वाइटहेड किसी भी स्थिर और ठोस पदार्थ को वास्तविक नहीं मानता। इसलिए वह आत्मा (Soul) को भी नहीं मानता। उसके दर्शन की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसे वह केवल 'क्रमिक अनुभवों का प्रवाह' ही मानता है। वह कहता है कि ज्ञाता खुद अनुभव से ज्यादा कुछ नहीं है, जो वस्तुओं को जानने, समझने और भावना के माध्यम से, उन्हें एकता देने का कार्य करता रहता है। पर एकता देने का यह कार्य मूलतः सचेत कार्य नहीं है। भावना के निम्न और मध्यम धरातल भी अचेत होते हैं, अपने उच्च धरातलों पर ही वह सचेत हो पाती है। इसी तरह बोध की अवस्था भी आवश्यक रूप से सचेत अवस्था नहीं होती।

चेतना वास्तव में द्वन्द्व के समय उत्पन्न होती है। एकीकरण के लिए प्रस्तुत वस्तुओं में जब विरोध होता है, तब उनका अचेतन रूप में संयोग कठिन हो जाता है और इस कार्य को पूर्ण करने के लिए क्रिया की उच्चतर शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। विरोध के धक्के से समन्वय का जो संघर्ष शुरू होता है, उसमें चेतना प्रकट होती है। इसलिए ह्वाइटहेड कहता है कि नकारात्मक बोध में ही चेतना अपने शिखर को छूती है। सचेतन बोध की अवस्था में वस्तुएँ अपने से अलग प्रतीत होने लगती है, जैसे चेतना रोशनी डालकर उन्हें प्रकाशित कर रही हो। परन्तु इस अवस्था में भी मनुष्य चेतना की पिछली अवस्थाओं में वापस लौटकर वस्तुओं के वास्तविक रूपों का अनुभव कर सकता है। सच्चा ज्ञान इसी से होता है, वस्तुपरक बौद्धिकता से नहीं।

● ● ●

'यथार्थ सत्ता' की तुलना ह्वाइटहेड कोष (Cell) से करता है। तात्पर्य यह कि विश्व अगणित कोषों का शरीर है। विविध सत्ताओं के आगार के रूप में विश्व स्वयं भी एक सत्ता बन जाता है। विश्व अनुभवों की एक सुसंगठित रचना है और इसे अच्छी तरह समझने के लिए इसकी सत्ताओं के आन्तरिक संगठन को तथा उन सब सत्ताओं के पारस्परिक सम्बन्धों और फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले गुणों को समझना आवश्यक है। यानी विश्व के सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए।

एक सत्ता से अनेक सत्ताओं वाले विश्व की ओर उन्मुख होने पर जो पहली बात दिखाई देती है, वह है 'विस्तार' (Extensiveness) की। सूक्ष्म सत्ताओं से इतना विस्तृत जगत् कैसे बन जाता है, इस पर आश्चर्य हो सकता है, परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि अनुभव सदा पूर्ण का ही होता है, सूक्ष्म की तो कल्पना ही की जाती है। यह विस्तार देश ही नहीं, काल में भी है। सत्ताओं का अनुभव जहाँ देश में फैला प्रतीत होता है, वहाँ काल में भी, और इससे सापेक्षता का यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि देश और काल मूलतः एक है।

विश्व का दूसरा गुण है 'सातत्य' (Continuum)। इसमें सत्ताओं के समूह प्रतिक्षण पैदा हो रहे और मर रहे हैं। इस सतत प्रवाह की उपेक्षा करना ठीक नहीं है क्योंकि उससे स्थिरता की गलत धारणाएँ उत्पन्न होती है। जो प्रकृति मुझे इस क्षण अनुभव हो रही है, वह पिछले क्षण अनुभव होने वाली प्रकृति का ही परिणाम है और इस सातत्य में एक तरह की प्रगति और विस्तार भी होता है। वर्तमान क्षण के अनुभवों में पिछले सब अनुभवों का इतिहास भी समाहित रहता है और उसमें एक और अनुभव जुड़ जाता है। जैसे बर्फ का गोला लुढ़कने के साथ-साथ बड़ा होता जाता है, उसी तरह यह भी है।

संसार की जड़, अर्धचेतन और चेतन सत्ताओं के व्यवहार से तीन बातें स्पष्टतः व्यक्त होती हैं : कि उन सभी में क्रिया विद्यमान है, कि वह सब क्रिया रचनात्मक विकास से संचालित एक उद्देश्य की ओर बढ़ती हुई बुद्धि के द्वारा समझी-बूझी जा सकती है, कि उस उद्देश्य की प्राप्ति से नवोदित सत्ता को आत्म-रचना का महान् 'सन्तोष' अनुभव होता है।

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है। पहले कहा गया है कि पुरानी सत्ताओं से नई सत्ताएँ बनने की सम्भावनाएं अनंत हैं। तो किस सम्भावित सत्ता को वास्तविक सत्ता का रूप मिले, इसका निर्णय कैसे होता है। उपर्युक्त व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि इसका निर्णय करने वाला तत्त्व है यथार्थ सत्ता का आत्मपरक उद्देश्य—वह उद्देश्य जिसकी पूर्ति या सन्तुष्टि सत्ता को प्रिय है और जिसकी खोज में वह संलग्न है। तो क्या यह कार्य स्वचालित है? शायद नहीं। क्योंकि जब हम विश्व के विस्तार तथा उसमें जन्मती मरती अगणित सत्ताओं और उनके पारस्परिक सामंजस्य और एकता पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें लगता है कि इन सब व्यक्तिगत आत्मपरक उद्देश्यों के अतिरिक्त समग्र विश्व का एक सामान्य आत्मपरक उद्देश्य भी होना आवश्यक है, जो उन सब व्यक्तिगत सत्ताओं के माध्यम से अपने को व्यक्त कर रहा है और क्रमिक सन्तुष्टियों से पूर्ण इस सतत प्रवाहित विश्व को सम्भव बना रहा है। इस चरम उद्देश्य या सिद्धान्त को, जिससे अन्य सब व्यक्तिगत उद्देश्य निकलते है, ह्वाइटहेड ने 'ईश्वर' (God) कहा है। यानी ईश्वर वह शक्ति है जो सभी सत्ताओं की रचना को आन्तरिक रूप से नियन्त्रित और सञ्चालित करती है। वही इस विश्व की स्थिति, प्रवाह, विकास और सामंजस्य के लिए उत्तरदायी है।

यह हुआ ईश्वर का वस्तुपरक दृष्टि से विवेचन, अब आत्मपरक दृष्टि से भी उसकी विद्यमानता को देखें। जैसा पहले कहा है, सम्भावित 'अनंत वस्तुएँ' अगणित हैं और उनमें आत्मपरक अनुभव की क्षमता भी होती है। ये वस्तुएँ एक दूसरे से घनिष्टतः सम्बद्ध भी है ही। अतः उन सब के संयुक्त अनुभव को ग्रहण करने तथा उससे तुष्ट होने वाली भी कोई एक वस्तु होनी चाहिए, जहाँ ये सभी अनुभव समन्वित और एक होते रहें। और यह वस्तु यथार्थ सत्ता से भिन्न और पूर्ववर्ती भी होनी चाहिए क्योंकि अनंत वस्तुएँ भी यथार्थ सत्ताओं की पूर्ववर्ती हैं। अतः हम 'ईश्वर' के रूप में उस मौलिक वस्तु की कल्पना तर्कसंगत रूप से कर सकते हैं। पर यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि यह अनुभव सचेत नहीं होता क्योंकि चेतनता बाद में यथार्थ सत्ताओं के जन्मने पर आती है। ईश्वर अचेतन भावना के द्वारा ही अनंत वस्तुओं का अनुभव करता है।

ईश्वर संसार से पूर्व होने के साथ-साथ उसमें अनुस्यूत भी है। यथार्थ सत्ताओं के उदित होने पर वह उन सब का भी अनुभव करता है।

इससे सत्ताएँ अनंत वस्तुओं की समग्रता से—जो ईश्वर है—सम्बद्ध हो जाती हैं और इस तरह एक ऐसे पूर्ण और चेतन अनुभव को जन्म देती हैं जिसमें सब यथार्थ सत्ताएँ और अनंत वस्तुएँ समन्वित हो जाती हैं। इस ईश्वरीय अनुभव तथा सत्ताओं के सामान्य अनुभवों में अन्तर यह है कि जहाँ सत्ताओं का सामान्य अनुभव उसके अपने रूप तक ही सीमित होता है, इस अनुभव में सभी सत्ताओं के सभी सम्भव रूपों का अनुभव एक साथ होता है। इस प्रकार ईश्वर न केवल संसार का निर्माता ही है, वह उसका सतत साथी भी है। विश्व जैसे जैसे रचनात्मक विकास के पथ पर आगे बढ़ता है, ईश्वर भी उसके साथ-साथ संसार में उतरता रहता है और नई-नई सत्ताओं के नए-नए अनुभवों को ग्रहण करता रहता है। इस तरह ईश्वर के अनुभव का विषय बनकर विश्व भी देश-काल के प्रवाह से ऊँचा उठ जाता है और ईश्वर में प्रविष्ट होकर अमर हो जाता है। पर फिर भी उसकी यात्रा चलती ही रहती है।

ईश्वर सम्बन्धी ह्वाइटहेड की यह कल्पना निश्चय ही अद्‌भुत है। इसमें सभी प्रकार की विरोधी मान्यताएँ सही प्रतीत होती हैं। वह कहता है: 'जैसे यह कहना सही है कि ईश्वर स्थायी है और संसार तरल, उसी तरह यह कहना भी सही है कि संसार स्थायी है और ईश्वर तरल। जैसे यह कहना सही है कि ईश्वर एक है और संसार अनेक, उसी तरह यह कहना भी सही है कि संसार एक है और ईश्वर अनेक। जैसे यह कहना सही है कि संसार की तुलना में ईश्वर अत्यधिक वास्तविक है, उसी तरह यह कहना भी सही है कि ईश्वर की तुलना में संसार अत्यधिक वास्तविक है। जैसे यह कहना सही है कि संसार ईश्वर में अनुस्यूत है, उसी तरह यह कहना भी सही है कि ईश्वर संसार में अनुस्यूत है। जैसे यह कहना सही है कि ईश्वर संसार का अतिक्रमण करता है, उसी तरह यह कहना भी सही है कि संसार ईश्वर का अतिक्रमण करता है। जैसे यह कहना सही है कि ईश्वर संसार की रचना करता है, उसी तरह यह कहना भी सही है कि संसार ईश्वर की रचना करता है।'

वैज्ञानिक आधारों से उद्‌भूत होने के कारण ह्वाइटहेड के ईश्वर की अपील बड़ी व्यापक है। परन्तु कई दार्शनिक इससे संतुष्ट नहीं हैं और इसे शब्दों का खेल और अस्पष्ट चिंतन का परिणाम मानते हैं। फिर भी समग्र रूप में देखने पर यह मानना पड़ता है कि ह्वाइटहेड का दर्शन इस युग की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जो एक नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण देती है

और समूचे विश्व को एक समग्रता में प्रस्तुत करती है। ह्वाइटहेड के कारण दर्शन अप-टु-डेट बनकर संसार के बाजार में आ खड़ा हुआ है।

● ● ●

ऐसे क्रान्तिकारी महत्त्व का योगदान करने वाले प्रो. एल्फ्रेड नार्थ ह्वाइटहेड का जीवन बहुत सामान्य और घटनाहीन रहा। १५ फरवरी, १८६१ को इंगलैण्ड के केंट नामक स्थान में आपका जन्म हुआ। कैंब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में आपने शिक्षा प्राप्त की और १८८४ में बी. ए. की डिग्री ली। इसके बाद वहीं आप गणित के अध्यापक हो गए और २७ वर्ष तक अर्थात् सन् १९११ तक यही कार्य करते रहे। इसके बाद ज्यामिति के रीडर होकर आप लंदन विश्वविद्यालय में चले गए। फिर लंदन विश्वविद्यालय के कालेज आव साइंस एंड टैक्नालाजी में आप १९१४-१९२४ तक एप्लाइड मैथमैटिक्स के प्रोफेसर रहे। इसी बीच आपने अपने शिष्य बरट्रन्ड रसेल के साथ मिलकर 'प्रिंसिपिया मैथमैटिका' लिखी जिसमें तर्कशास्त्र से गणित का विकास दिखाया गया है।

६३ वर्ष की अवस्था में आप अमेरिका चले आए और हारवर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर हो गए। अमेरिका में आप २३ वर्ष रहे और अपनी किताबें लिखते रहे। आप के दर्शन का विकास मुख्यतः अमेरिका में होने के कारण अमेरिकी जन आपकी गणना अपने देश के दार्शनिकों में ही करते हैं। सन् १९३६ में अपने पद से रिटायर होने के बाद भी आप लेखन कार्य करते रहे। ३० दिसम्बर १९४७ को ८६ वर्ष की लम्बी अवस्था में आपकी मृत्यु हुई। ●

अल्बेयर कामू
१९१४–१९६०

●

अल्बेयर कामू को 'फिलॉस्फ़र ऑव दि एब्सर्ड' कहा जाता है। जनवरी १९६० में मोटर-दुर्घटना से, ४६ वर्ष की अल्पायु में ही जब उसकी मृत्यु हो गई, तब जैसे नियति ने ही स्वतः यह सिद्ध कर दिया कि—हाँ, यह संसार और जीवन 'एब्सर्ड' ही है। नहीं तो, जो व्यक्ति बाक़ायदा रेल से यात्रा करने जा रहा था, जिसका टिकट भी खरीद लिया गया था, वह आखिरी समय पर क्यों किसी अन्य के साथ मोटर पर बैठकर चलने को उद्यत हुआ। इसके अतिरिक्त, सार्त्र और मालरो की परम्परा में, तथा उनसे बहुत कुछ भिन्न होकर और आगे बढ़कर भी, वर्तमान समाज, परिस्थिति, प्रकृति आदि की गहनतम विवेचना करने के बाद जब वह गहरी निराशा के अंधेरे में प्रकाश की एक किरण खोजने का उद्योग कर ही रहा था—अभी उसने इस किरण की ओर संकेत मात्र ही किया था—तभी अचानक काल ने उसे बड़े क्रूरतापूर्ण ढंग से उठा लिया······क्यों? यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है और इसका उत्तर कहीं नहीं है। दुनिया को बस यही पता चला कि दुर्घटनावश उसकी मृत्यु हो गई है, परन्तु इसी में सृष्टि, प्रकृति, नियति—या उसे जो भी कहें—में होने वाली घटनाओं की मूलभूत 'एब्सर्डिटी' या असंगति छिपी है।

यह असंगति अपने आप में एक बड़ी ही भयंकर वस्तु है। जो यह सृष्टि और जीवन है, उसमें मनुष्य अपनी सत्ता का, अपने कर्मों का, अपनी इच्छाओं और वासनाओं का, अपने मन और बुद्धि का कोई अर्थ खोजना चाहता है। क्या वास्तव में इन सब का कोई संगत अर्थ है? या नहीं है? मान लीजिए, नहीं है, जैसा कि अस्तित्ववादी दार्शनिक प्राय: मानते हैं, तो क्या किसी सन्तोषजनक अर्थ का निर्माण किया जा सकता है?

अपने पूर्ववर्ती अस्तित्ववादियों से आगे बढ़कर कामू ने यह प्रश्न प्रस्तुत किया। इससे पूर्व सार्त्र ने कहा—"मैं कुछ नहीं हूँ, मेरे पास भी कुछ नहीं है। मैं इस संसार में रोशनी की तरह हूँ—संसार से अविच्छिन्न-परन्तु उसी की तरह मैं भी संसार से अलग होकर इधर उधर भटक रहा हूँ, पत्थर और पानी की सतह पर निरर्थक होकर तैर रहा हूँ। सहारा देने वाला कहीं कोई नहीं है। बाहर—संसार से बाहर, भूतकाल से बाहर, अपने आप से बाहर सिर्फ मैं ही हूँ।" इससे भी पूर्व स्टेंढल ने कहा था—'हम समाज में रहते हुए भी अकेले हैं। इस संसार के लिए हम परदेशी की तरह हैं।'

यह असंगति तब और भी कठिन और क्रूर हो उठती है, जब व्यक्ति उसकी सत्ता का अनुभव कर ले, उसे भली भाँति समझ ले तथा फिर भी उसी के भीतर रहने, जीवन बिताने के लिए बाध्य हो। कामू के अनुसार यही वर्तमान युग का आध्यात्मिक संकट है। सन् १९५२ में जब उसे नोबेल पुरस्कार दिया गया, तब उसने कहा, "मैं ऐसे भ्रष्ट समाज में उत्पन्न हुआ हूँ, जिसमें असफल क्रान्तियों, पागलपन की हद तक पहुँची व्यवस्थाओं, मृत देवी-देवताओं तथा बेहद घिसी-पिटी विचार-धाराओं की बदबू घुली-मिली है, जिसमें निम्न श्रेणी की शक्तियाँ प्रत्येक उत्तम वस्तु का नाश करने में समर्थ है, जिसमें बुद्धि इतनी नीचे उतर आई है कि वह घृणा और अत्याचार को फैलाने में भी मदद करने लगी है।"

यह एक महान् मानवतावादी द्वारा किया गया समसामयिक समाज और युग का विश्लेषण है। एक अन्य अवसर पर उसने कहा था, "इस युग के साथ मैं पूरी तरह सम्बद्ध हूँ। इसका विचार मैं निर्लिप्त रहकर नहीं कर सकता। इसका विचार मैं इसके भीतर रहकर तथा इसका एक भाग बनकर ही कर सकता हूं।" और उसके सम्पूर्ण जीवन तथा लेखन से प्रकट है कि उसने बिलकुल ऐसा ही किया।

● ● ●

प्रश्न हो सकता है कि समाज और जीवन का इतना निराशावादी दृष्टिकोण स्वीकार करने का कारण क्या है? इसकी पूर्ण विवेचना के लिए हमें जरा इतिहास के भीतर झाँकना पड़ेगा। जिस युग में, जागतिक रूप से, हम आज जी रहे हैं, उसका आरम्भ पाश्चात्य रिनेसाँ से माना जा सकता है। रिनेसाँ ने मनुष्य को संसार के केन्द्रविन्दु में स्थापित कर

दिया, यानी इस समय से वह अपना स्वामी स्वयं बन गया, उसके हाथ में इतनी अपार शक्ति आ गई कि अपना सब कार्य और विकास खुद ही कर सके। अब वह संसार तथा अन्य मानव-बन्धुओं के साथ मित्र भाव से रहने का स्वप्न देखने लगा। सब यह समझने लगे कि मनुष्य सृष्टि का अद्भुत महत्त्वपूर्ण प्राणी है क्योंकि वह कोई भी कार्य करने अथवा न करने के लिए स्वतन्त्र है तथा वह अनेकानेक प्रकार से स्वतः को अभिव्यक्त भी कर सकता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार, ज्ञान-वृद्धि के साथ मनुष्य की शक्ति भी बढ़ती थी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सुख और विश्व की व्यवस्था के मध्य कोई विरोध प्रतीत नहीं होता था। देकार्त ने 'स्व' की सत्ता को सिद्ध किया और ग्रोशियस ने बताया कि तर्क-बुद्धि मानवी प्रकृति का सत्व और प्रमाण दोनों ही हैं और यही सार्वजनीन मानव अधिकारों, विधिविधानों, जीवन-मूल्यों तथा व्यवस्थाओं का मूल स्रोत भी है।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मानवतावादी विचारकों ने इन बातों का व्यापक रूप से प्रचार किया। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक उन्नति तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप अब वह समय आ गया, जब पश्चिम में विकसित यह विश्व-मानववादी विचारधारा विभिन्न देशों की सभ्यताओं और संस्कृतियों के घरों में घुसकर उन्हें अपने अनुसार परिवर्तित करने में लग गई। उसने चेष्टा की कि ईश्वर को हटाकर उसके स्थान पर मनुष्य को बिठा दे, धर्म को पदच्युत कर विज्ञान का आरोहण करे और तर्क-बुद्धि तथा स्वतन्त्रता का इस भाँति सामंजस्य स्थापित करे कि विकास के साथ बढ़ती हुई मनुष्य की शक्ति अपना दुरुपयोग न करने लगे।

लेकिन इसके साथ-साथ एक विरोधी प्रक्रिया भी आरम्भ हो गई थी, जिसके दुष्परिणाम अब बीसवीं शताब्दी में प्रकट हो रहे हैं। वह यह कि विज्ञान ने जहां मनुष्य के जीवन-स्तर को उन्नत किया, उसे नई से नई सुविधाएँ प्रदान कीं, वहां उसने उसे अपने आविष्कारों तथा नई नई मशीनों का गुलाम भी बना दिया। अब जीवन की विविधता नष्ट होकर उसमें एकरसता आने लगी, अधिकाधिक संगठन और शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और व्यक्ति का विनाश होकर समूह का उदय होने लगा। यह प्रक्रिया आगे हो बढ़ती गई और अब स्थिति यह है कि सम्पूर्ण मानव जाति का भाग्य उन कुछ व्यक्तियों के हाथ में नज़रबन्द है जिनके पास हाईड्रोजन बम और मिसाएल्ज़ हैं और जो पता नहीं कब और

पता नहीं क्यों, उनका प्रयोग कर सकते हैं। यही नहीं, मात्र दुर्घटनावश भी ये अस्त्र चलकर तिहाई मानवता का नाश कर सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्य अब अपनी ही रचना का गुलाम और उससे उत्पन्न इस महान् विनाश का दर्शक बनकर ही रह गया है। इस बीसवीं शताब्दी का युग विभाजन युद्ध से अविच्छिन्न रूप में सम्बद्ध है—जैसे प्रथम महायुद्ध से पूर्व का युग, उसके बाद का युग, दूसरे महायुद्ध की तैयारी का युद्ध, महायुद्ध का युग, उसके बाद का युग और अब शीत युद्ध का युग। इस शताब्दी में सेनाएँ इधर से उधर चलती फिरती ही रहीं, ध्वंस निरंतर होता ही रहा और फिर उनके पीछे कैदियों की कतारें भी आती जाती रहीं। यही नहीं, लाखों निरपराध यहूदियों का जान बूझकर विनाश हिटलर की जर्मनी में किया गया।

ऐसी कठिन शताब्दी यदि किसी महान् चिंतक की माँग करे, तो आश्चर्य की क्या बात है? किर्कगार्ड, दास्तवस्की, मार्क्स और नीत्शे से लेकर स्टैंढल, बादलेयर, मेलार्मे और फ्लाबेयर तक और एकदम आधुनिक युग में काफ्का, उनामुन, इलियट, ओ' नेल, हक्सले, सार्त्र, आयोनेस्को, मालरो और ज्याँ जेने तक—छोटे और बड़े सभी चिंतकों और लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि तथा सामर्थ्य के अनुसार युग तथा उसमें फँसे हुए मनुष्य की व्यथा का विवेचन-विश्लेषण किया और मार्गदर्शन करने की चेष्टा की। कुछ लोगों ने, जैसे क्लॉडेल और मारवाँ ने नए ढंग से ईसाई धर्म को ही प्रसारित करने का परामर्श दिया, तो कुछ लोगों ने, जिनमें मार्क्स, एंगिल्स, और अब सार्त्र, प्रमुख हैं, साम्यवाद लाने के लिए इतिहास की व्याख्या को बदला और कुछ अन्य लोगों ने, जिनमें सार्त्र और मालरो के साथ-साथ कामू को भी लिया जा सकता है, सृष्टि और जीवन की निरर्थकता को बड़े नाटकीय तथा प्रभावी ढंग से प्रस्तुत तथा स्पष्ट किया।

अनीश्वर-अस्तित्ववादी विचारक-लेखकों में कामू का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह अपने सहकारियों से एक विशेष बात में भिन्न भी है। वह निराशा को स्वीकार करता है, उसे अपना योगदान भी करता है और अन्य सबसे कहीं ज्यादा प्रबलता के साथ करता है, परन्तु वह निराशा और शून्यता के मनोवैज्ञानिक जायके में डूब जाना स्वीकार नहीं करता। वह सामने खड़े होकर समस्या को देखता है और उसका कोई बुद्धिसंगत समाधान खोज लेना चाहता है—ऐसा समाधान जो मानवता

का लाभ भी कर सके। सार्त्र भी मानवता के लाभ का चिंतन करता है परन्तु वह समस्या का सीधा उत्तर नहीं देता, जरा बच निकलकर समाजवाद के वस्त्रों में लपेटकर अपना उत्तर प्रस्तुत करता है। कामू जीवन भर निराशा के अंधकार से लड़ता रहता है और उस किरण की खोज करता रहता है, जिसके सहारे जीवित रहा जा सकता है, जिसको देखकर आत्महत्या के विचारों का नाश किया जा सकता है। कामू का विश्वास था कि आधुनिक युग के दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण और वास्तविक समस्या आत्महत्या की समस्या है, अकाल मृत्यु की समस्या है। सीधे खड़े होकर और आँखों में आँखें डालकर इस समस्या का सामना करके ही मनुष्य जीवन का वास्तविक अर्थ जान पाने में सफल हो सकता है।

● ● ●

कहा जा सकता है कि कामू ने जीवन भर आमने-सामने रहकर मृत्यु का सामना किया। गरीबी में वह पैदा हुआ और साल के भीतर ही उसके पिता चल बसे। शिक्षा प्राप्त करने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसने दलाली की, मोटरों के पुर्जे बेचे, पुलिस विभाग में क्लर्की की तथा कुछ समय तक मेटरोलॉजिस्ट का भी काम किया। इस तरह उसने एलजियर्स विश्वविद्यालय से मास्टर आव आर्टस की डिग्री ली तथा साथ ही फुटबाल और नाटक खेलने में भी यश प्राप्त किया। उसका एक नाटक एलजियर्स की सरकार ने जब्त कर लिया तथा कुछ समय के लिए उसे देश-निकाला भी दे दिया गया।

एलजियर्स छोड़ने के बाद वह इटली और आस्ट्रिया में घूमता रहा और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में काम करता रहा। सन् १९४० में वह पेरिस आया। इसी बीच द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया और जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस में प्रतिरोध का वह महान् आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसमें फ्रेंच लेखकों ने अत्यन्त क्रियात्मक भाग लिया। कामू 'कम्बैट' नामक सुप्रसिद्ध दल में काम करता रहा और फिर उसकी पत्रिका का सम्पादक भी हो गया। उसके समय में मालरो, सार्त्र, बर्नेनोस, रेमांद आरों तथा फ़्रेंकाइसे बान्दी जैसे व्यक्ति पत्रिका के नियमित लेखक थे।

महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् इस आन्दोलन का संगठन बिखर गया और सन् १९४७ में कामू ने क्रियात्मक राजनीति से संन्यास लेकर विचारक और रचनात्मक लेखक के पेशे को पूरी तरह स्वीकार कर लिया। इसके बाद ही उसने वे उपन्यास और नाटक तथा निबन्ध और

पत्र लिखे जिन्होंने साहित्य और चिंता के जगत् को आमूल चूल हिला डाला।

स्पष्ट है कि जीवन भर वह मृत्यु का, विभिन्न रूपों में, सामना करता रहा और जब उसने जान लिया कि इससे मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं है, तब उसने अपनी परिस्थिति को स्वीकार करने के लिए अन्य सब वस्तुओं का परित्याग भी कर दिया। अब उसने दार्शनिक धरातल पर उन परिस्थितियों से लड़ना भी आरम्भ किया। संघर्ष की कठोरता के कारण, जो अधिकांशतः मानसिक और बौद्धिक ही थी, उसे राजरोग तपेदिक भी हो गई, परन्तु वह हारा नहीं।

कामू के चिन्तन की विशेषता यह है कि उसने विश्व-व्यवस्था तथा मनुष्य-जीवन की हास्यास्पद असंगति को स्वीकार करके भी उसे पराजित करने का उपाय बताया। उसने कहा कि हमें अपने युग में तेजी से बढ़ रही मृत्यु-भावना से लड़ना है—यह जानते हुए भी लड़ना है कि सम्भवतः हम सफल नहीं होगे। उसने कहा कि हम में से जो लोग कष्ट सहने को बाध्य हैं, उन सब को सगठित हो जाना चाहिए। इसके साथ ही उसने यह भी कहा कि आज का लेखक उन लोगों का साथ कदापि नहीं दे सकता, जो इतिहास को बना रहे हैं, उसे अनिवार्य रूप से उन लोगों का साथ देना है, जो इतिहास की भयंकरताओं को सह रहे हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण आवाहन है संसार भर के जाग्रत लेखकों के लिए, और यही कामू को अन्य सब लेखकों से भिन्न भी करता है, क्योंकि अन्य किसो ने भी ऐसा स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं प्रदान किया।

इसी स्थल पर कामू अपने साथी सार्त्र से भी भिन्न हो जाता है। सार्त्र किसी भी मौलिक 'मानवी तत्त्व' (Human Essence) या स्वभाव को स्वीकार नहीं करता, वह केवल एक 'सार्वजनीन मानवी परिस्थिति' को ही स्वीकार करता है। इसी कारण वह परिस्थिति की चीर-फाड़ तात्त्विक और आध्यात्मिक रूप से न करके साम्यवादो दिशा की ओर मुड़ जाता है और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक ढंग से मानवता को सुखी करने की चेष्टा करता है। परन्तु कामू असंगति और व्यर्थता को मूल मनोवैज्ञानिक गुत्थी को सुलझाए बिना चैन नहीं लेता। वह 'विश्व के शाश्वत अन्याय' को आधारभूत रूप से स्वीकार करता है और फिर उसका परिष्कार करने के लिए प्रेम, मित्रता, सहानुभूति, ईमानदारी, स्वतन्त्रता और न्याय के 'नैतिक मानवी तत्त्व' को सामने लाता है।

इसी से प्रेरित होकर वह कहता है कि मानव जाति को सुख, स्वास्थ्य तथा जीवन की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहना चाहिए। वह कहता है—'चूँकि इस संसार में कोई ईश्वर नहीं हैं परन्तु कष्ट अपार हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि जहाँ कहीं भी दुःख को देखे, उसे कम करने की भरसक चेष्टा करे और अपनी शक्ति भर प्रसन्नता और सुख को बढाता चले।' कामू के इस कथन को उसके दर्शन तथा चिंतन का सार कह सकते हैं। बुद्ध ने भी शायद इतनी मार्मिकता से इसे अभिव्यक्त नहीं किय। वे तो निराशा के प्रवाह में वह गए और उसे ही सब कुछ मानने लगे। उन्होंने तो इस दु:खपूर्ण जीवन से छुटकारा पाने के लिए निर्वाण का–बुझ जाने का—माग भी सुप्रतिष्ठित कर दिया।

यहाँ द्रष्टव्य यह भी है कि सार्त्र, नीत्शे आदि जहां ईश्वर को अस्वीकार करके भी मनोवैज्ञानिक रूप से उसकी आवश्यकता से मुक्त नहीं हो पाए हैं, वहाँ कामू ने यह मुक्ति प्राप्त कर ली है और वह केवल 'मानवो तत्त्व' के आधार पर भविष्य का जीवन गठित करने को तैयार हो चुका है। ईश्वर के न होने की बात को वह बड़े ठण्डे दिल से लेता है और फिर तुरन्त मानव जीवन पर उसके परिणामों तथा तदनुसार आचार के संयोजन की समस्याओं पर विचार करने लगता है। अनीश्वरवादी चिंतन और व्यवहार के विकास में इसे एक ऐतिहासिक महत्त्व का मोड़ समझा जाना चाहिए। भविष्य के चिंतक सम्भवतः इससे आगे की मिट्टी तोड़ सकेंगे।

अपनी दार्शनिक खोज के इसी संधि-काल में नियति ने अचानक कामू को संसार से उठा लिया। सन् १९५८ से ही उसे इस बात की प्रतीति थी कि उसे अपना वास्तविक काम अब शुरू करना है, क्योंकि उसने कहा था—'बीस वर्ष तक लगातार काम करने के बाद भी आज दिन मेरा यही विश्वास है कि मैंने अपना वास्तविक कार्य अभी भी आरम्भ नहीं किया है।' यह भी स्पष्ट है कि निराशा और अविश्वास से वह आशा तथा विश्वास की ओर आ रहा था और उसके नए आधारों का संकेत करने लगा था। ऐसे अवसर पर उसका दुर्घटना से नष्ट हो जाना विश्व-प्रक्रिया के भीतर की मूर्खतापूर्ण क्रूर असंगति और ईश्वरहीनता को ही पुष्ट करता है। या कहें कि नियति को उसके द्वारा एक मानवतावादी दर्शन का विकास और स्थापना प्रिय नहीं थो। यदि उसे १०-१५ वर्ष भी

और मिलते, जो सामान्य मानव-जीवन की दृष्टि से भी कोई बहुत ज्यादा नहीं हैं, तो निश्चय ही वह एक नितांत नवीन तत्त्व दर्शन और जीवन-दर्शन सिर से पैर तक खड़ा करके रख जाता। इसके लिए चार-पाँच पुस्तकें और लिखना ही पर्याप्त होता।

● ● ●

कामू की रचनाओं में चिंतन का यह विकास-क्रम स्पष्ट झलकता हैं। उन्हें दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है : एक में उपन्यास, कहानियाँ तथा नाटक और दूसरे में निबन्ध और पत्र। पहले भाग की रचनाओं में उसने जीवन और परिस्थितियों का विश्लेषण करके उनकी निराशाजनक असंगति को व्यक्त किया है और दूसरे भाग की रचनाओं में अपने दर्शन की मीमांसा की है तथा उसके भावात्मक पक्ष को विकसित किया है। शायद यही उचित और सम्भव भी था। परन्तु जो लोग केवल उसके उपन्यास और नाटक ही पढ़ते हैं, उन्हें अक्सर भ्रम हो जाता है कि कामू ने कोई मार्ग नहीं सुझाया है। यह भ्रम इसी बात से स्पष्ट है कि उसे 'फिलास्फर आव दि एब्सर्ड' कहा जाता है, 'फ़िलास्फ़र आव ह्यूमन एसेंस' नही कहा जाता, जो ज्यादा उचित है।

कामू की पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'दि स्ट्रेन्जर' है जो सन् १९४२ में प्रकाशित हुई। इससे पहले यात्रा सम्बन्धी उसकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं जिनमे विश्व-व्यवस्था की असंगति लेखक को प्रतीत होने लगी थी। 'दि स्ट्रेन्जर' का नायक, मेउरसाल्ट ऐसा जीवन जीता है, जिसका कोई अर्थ नही है। घटनाओं के ऊपर स्वतः को छोड़कर संसार और जीवन के लिए एक अजनबी की तरह वह सब काम करता है, और इस कारण प्रेम, सहानुभूति, दया आदि किसी भी भावना की अनुभूति उसे नहीं होती। परिस्थितियाँ उसे हत्या करने को बाध्य करती हैं, और उसे मृत्युदण्ड प्राप्त हो जाता है। तब वह जेल में बैठकर शांत चित्त से अपने समग्र जीवन पर विचार करता है। तब उसे अपनी निहित मानवता का साक्षात्कार होता है, जो इस विरोधी विश्व में एक अनोखी वस्तु है। यह जानकर वह मुक्ति की मिथ्या आशा को तोड़-फोड़ डालता है और विश्व को निर्लिप्तता के प्रति स्वतः को उन्मुक्त कर देता है। परन्तु अब ऐसा करते हुए उसे कष्ट नहीं होता, अपितु जीवन की हास्यास्पद व्यर्थता के प्रति एक दुःखद अनुभूति भर होती है।

सार्त्र के 'नौसिया' की तरह यह छोटा सा उपन्यास भी अत्यन्त प्रभावी है, जो पाठक के मन को झकझोर कर रख देता है। इसकी शैली

बड़ी अनोखी है जिसका एक एक वाक्य बड़ी तीव्रता से नायक की विशिष्ट मानसिक स्थिति को व्यक्त करता और वातावरण बनाता चलता है। परन्तु जहाँ 'नौसिया' आत्मपरक (Subjective) होकर अस्तित्व के दार्शनिक विवेचन की ओर बढ़ जाता है, वहां यह वस्तुपरक (Objective) बने रहकर व्यक्ति और नियति के सम्बन्ध को अधिकाधिक स्पष्ट करता है। विश्व के आधुनिक साहित्य में इन दोनों उपन्यासों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'दि मिथ आव सिसीफ़स' कामू की दूसरी पुस्तक है, जो निबन्धों का संग्रह है। इसे 'दि स्ट्रेन्जर' का अगला कदम मान सकते हैं। इसमें सिसीफ़स की पौराणिक कथा के माध्यम से—जिसमें उसे यह दण्ड दिया गया था कि वह एक विशाल पत्थर को पहाड़ की चोटी पर पहुंचा दे, परन्तु होता यह था कि चोटी पर पहुंचते ही हर बार यह पत्थर फिर नीचे लुढ़क आता था, और इसलिए सिसीफ़स उस पत्थर को निरन्तर ऊपर ही चढ़ाने में लगा रहा—यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य का भाग्य भी सिसीफ़स के समान ही व्यर्थतापूर्ण है और भले ही उसे अपने प्रयत्न की असफलता का पहले से ज्ञान हो, उसे अपने उद्योग में अनवरत लगा ही रहना है। परन्तु कामू इसके आगे यह कहता है कि असफलता के ज्ञान के साथ काम करने में मनुष्य को एक तरह की आध्यात्मिकता प्राप्त हो जाती है, जो स्वतः में एक पुरस्कार है।

'दि फॉल', 'दि प्लेग' तथा 'दि रिबेल' आदि मे विविध दृष्टिकोणों से विश्व-परिस्थिति की असगति को व्यक्त किया गया है। दि फॉल' में क्लेमेंस अपने पतन की कहानी कहता है। वह एक सफल वकील था और अपने काम-धाम से सन्तुष्ट रहता था। अचानक कहीं से एक रहस्यमय हँसी सुनाई देती है, जिसके परिणामस्वरूप वह अपने जीवन का विश्लेषण करने को बाध्य होता है। इसे वह अपना पहला पतन मानता है जो, कामू की दृष्टि में, मानवी विशेषता के प्रति उसकी आत्मा का जागरण है। लेकिन हँसी फिर भी जारी रहती है। अपना पूरा निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस सबसे निस्तार नहीं है। तब वह बनावट की शरण लेता है। यह उसका वास्तविक पतन है।

'दि प्लेग' एक बड़ा उपन्यास है जो अनेक दृष्टियों से अत्यन्त सफल कृति है। इसमें विस्तार से समाज तथा मनुष्य के ऊपर युद्ध के प्रभाव की मीमांसा की गई है। दार्शनिक होते हुए भी इसकी रोचकता कहीं भी कम नहीं होती और अनेक स्थलों पर इसकी अपील बड़ी गहरी

है। अकाल-मृत्यु की दार्शनिक मीमांसा बड़ी सफल हुई है और उस सब के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर तथा धर्म की निस्सारता व्यक्त की गई है। इसमें डा० रिये कहता है कि संसार में वस्तुपरक रूप से जो भी जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेना चाहिए। उससे डरकर भागना अमानवीय तथा उसे धार्मिक विश्वासों से भरने का प्रयत्न करना बौद्धिक बेईमानी है।

'दि रिबेल' कम्युनिज्म के विरुद्ध है, जो मनुष्य को वस्तु बना देती है, ज्ञान को सिद्धान्तों के पिंजरे में बन्द कर देती है। इन दोनों पुस्तकों से कामू ने ईसाई धर्म तथा साम्यवाद को 'बैड फेथ' कहकर अस्वीकृत कर दिया है।

सन् १९४४ में उसने एक काल्पनिक जर्मन मित्र के नाम लिखे कुछ पत्र प्रकाशित किए, जिनमें जर्मन आधिपत्यवाद तथा फ्रेंच अकर्मण्यता दोनों का एक ही आधार स्रोत बताते हुए कहा गया कि नैतिक निहिलिज्म ही इन दोनों का कारण है और उसके स्थान पर 'मानवी न्याय' की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।

आगामी वर्षों में उसके 'दि एक्चुएलिटीज़', 'रिफ्लेक्शस ओवर एक्ज़ीक्यूशन', 'दि एक्ज़ाइल एंड दि किंगडम', 'दि स्टेट आव सीज', 'दि जस्ट' आदि प्रकाशित हुए जिनमें उसके दर्शन का भावात्मक पक्ष प्रकट हुआ। इन्हीं में उसके मानवी तत्त्व वाले दर्शन का विकास हुआ जिसकी चर्चा की जा चुकी है। युग के चिंतन को यह उसका अपना योगदान था। इसके कारण उसे सार्त्र तथा उसके स्कूल और आंद्रे ब्रेतों, जिब्रील मार्सेल आदि के साथ अनेक बौद्धिक विवादों में फंसना पड़ा। बहुत कुछ इन विवादों के कारण भी उसका दर्शन स्पष्टतर होकर सामने आया। इसके अतिरिक्त उसने 'कैलीगुला', 'दि पज़ेस्ड' तथा 'क्रास परपज़' नामक नाटक भी लिखे।

कामू ने एक स्थान पर लिखा है कि कलाकार को अपने युग की मानवी परिस्थिति का साक्षी बनना चाहिए। प्रतीत होता है कि यह विचार उसके अपने ही व्यक्तित्व का केन्द्रविन्दु था जिसके चारों ओर उसके क्रिया-कलाप का वात्याचक्र तेजी से घूमता रहा। कहा जा सकता है कि वह इसमें सफल भी हुआ। वह न केवल अपने युग का प्रवक्ता हुआ, अपितु उसने भावी युग के लिए मार्ग भी खोज निकाला। मृत्यु में भी उसने नियति को यह सिद्ध करने के लिए झुका लिया कि यह संसार और जीवन 'एब्सर्ड' ही है। इसी में उसकी सर्वोपरि जय है। ●